महात्मा कबीर

सूरी ब्रदर्स

गणपत रोड, लाहौर।

प्रभाकर परीक्षा की सहायक पुस्तकें

नाट्य-कला की कुंजी

ले०—वैकुण्ठनाथ जी, बी० ए० बी० टी०, हिन्दी-प्रभाकर

इसमें पुस्तक की समालोचना, लेखकों का परिचय लेखों की आलोचना, कठिन शब्दों के अर्थ, लेखों का सार, कठिन गद्यांशों की व्याख्या, पद्यों के अर्थ, प्रसिद्ध चले हुए प्रश्न तथा अनुमानित प्रश्न हैं। मूल्य १=)

हिन्दी साहित्य के इतिहास की कुंजी

द्वितीय संस्करण

(लेखक—कविराज रामलाल अग्रवाल साहित्य रत्न)

यह पुस्तक अग्रवाल जी के अत्यन्त परिश्रम का फल है। पुस्तक कितनी परीक्षोपयोगी है यह पढ़ कर ही जाना जा सकता है। इसमें सारा का सारा इतिहास संक्षिप्त रूप में दे दिया गया है। छपाई साफ तथा सुन्दर है। विद्यार्थी इसकी सहायता से सारा इतिहास दो घण्टे में पढ़ कर उत्तीर्ण हो सकते हैं। मूल्य ॥)

प्रभाकर जांच पत्र

यह विद्यार्थियों के बड़े काम की चीज़ हैं, इनमें विद्वान् लेखकों ने अपने अनुभव का संग्रह कर परीक्षा में आने वाले अनुमानित पत्र दिये हैं, इनको एक बार करने से परीक्षार्थी आसानी से उत्तीर्ण हो सकते हैं। मूल्य ॥।)

महात्मा कबीर

(विश्लेषणात्मक विवेचन)

भूमिका-लेखक

पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा, एम० ए०

अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर।

माननीय सदस्य, हिन्दुस्तानी ऍकेडेमी, प्रयाग।

कन्वीनर-बोर्ड ऑफ़ स्टडीज़; हिन्दी,

आगरा-विश्वविद्यालय।

लेखक

श्री हरिहर निवास द्विवेदी

प्रकाशक

सूरी ब्रदर्स

मूल्य अजिल्द ।।।-)   मूल्य सजिल्द ।।।≡)

प्रकाशक—
श्री मदनलाल सूरी,
सूरी ब्रदर्स
गणपत रोड, लाहौर

पहला संस्करण १०००
दूसरा संस्करण २२००

मुद्रक—
एस० सी० लखनपाल,
रमेश प्रिंटिंग वर्क्स,
मोहनलाल रोड, लाहौर

विषय-सूची

भेंट :—

....

....

....

भूमिका

महात्मा कबीर हिन्दी साहित्य के उन महा कवियों में से हैं, जिनका प्रभाव भारत की धर्म-प्राण हिन्दू जनता पर आज भी पूर्ण रूप से लक्षित हो रहा है। कबीर की साखी एवं पदों का इतना अधिक प्रचार है कि जीवन की प्रत्येक स्थिति, तथा अवस्था में उनका उल्लेख होता रहता है। कबीर में पाण्डित्य अधिक भले ही न हो, पर उनका अनुभव, लगन, सत्य-प्रियता, स्पष्टवादिता और आचरण की पवित्रता इतनी उच्च कोटि की हैं कि जिनके सामने पाण्डित्य का कोई विशेष स्थान ही नहीं रहता। जिन लोगों ने कबीर के काव्य का रसास्वादन किया है वे भली भांति जानते हैं कि उन में कितनी प्रखर प्रतिभा थी, वे जिस बात को कहना चाहते थे उस में कितनी निर्भीकता और धारावाहिक प्रवाह है। इस में संदेह नहीं कि कबीर ने न तो काव्य-शास्त्र का ही अध्ययन किया था और न उन्हें अपनी भाषा के परिमार्जन का ही ध्यान था। वे जो ठीक ठीक समझते थे उसे कहने में आगा-पीछा या संकोच न करते थे। उनकी इस प्रवृत्ति के कारण ही उस समय के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उन से असंतुष्ट थे, पर कबीर को इसकी क्या परवाह थी। कबीर की धारणा थी कि वे विशेष उद्देश्य से संसार में आए थे और उसी उद्देश्य

की पूर्ति में उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया था। हिन्दी-साहित्य में संत-परम्परा का स्पष्ट रूप से प्रारम्भ कबीर के समय से ही हुआ और उसका उत्तरोत्तर प्रचार बढ़ता ही गया। श्री राहुल सांकृतायन ने गंगा के पुरातत्त्व अंक में एक लेख द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कबीर अपनी परम्परा के प्रथम कवि न थे, वरन् उन से पहले बहुत से संत कवि हो गये हैं। परन्तु अभी यह विषय विवादास्पद ही है, और ऐसी अवस्था में कबीर अपने उच्च आसन से च्युत नहीं किये जा सकते। कबीर ने ही हिन्दी में रहस्यात्मक काव्य-प्रणाली का सूत्रपात किया और इस के वास्तव में वे ही अधिकारी भी थे। उन के पदों से यह स्पष्ट सूचित होता है कि कबीर को परम रहस्यपूर्ण शक्ति से साक्षात्कार अवश्य हुआ था। कबीर में गर्वोक्ति नहीं वरन् उन्होंने जो कुछ जैसा देखा, सुना और अनुभव किया था उसी का उल्लेख किया है। आधुनिक छायावाद तथा नोबुल-पुरस्कार-विजेता पर भी कबीर का प्रभाव लक्षित होता है।

परन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि ऐसे महात्मा और दार्शनिक कवि की ओर जैसा चाहिए था, वैसा ध्यान विद्वानों ने नहीं दिया। समालोचना का तो अभाव है ही, अभी तक कबीर का ठीक ठीक पाठ भी नहीं मिलता। संकलन-कर्त्ताओं ने अपनी रुचि के अनुसार भाषा में भी परिवर्तन कर दिया जिस से कबीर की वास्तविक भाषा का ठीक ठीक पता नहीं लगता। कबीर के विचारों में भी स्थान स्थान पर विरोध मिलता है जिसे देख कर कुछ विद्वानों की धारणा है कि कबीर एकेश्वरवाद, अवतार-वाद आदि का समर्थन भी करते हैं तथा खण्डन भी। यदि किसी प्रकार कबीर का काव्य-रचना-काल के क्रमानुसार

रखा जा सकता तो उन के विचारों के क्रमिक तथा उत्तरोत्तर विकास एवं विचार-परिवर्तन का पता लग सकता था, परन्तु अभी तो इस ओर सफल होने के कोई साधन ही नहीं उपलब्ध प्रतीत होते कबीर पर कार्य करने के लिए इस समय एक प्रकार से सम्पूर्ण क्षेत्र ही पड़ा हुआ है। जिन विद्वानों ने कबीर पर लिखा भी है वह पर्य्याप्त नहीं है। उन को तो केवल पथ-प्रदर्शन का कार्य कर भावी लेखकों तथा समालोचकों को उत्साहित करने का श्रेय प्राप्त है।

मेरे प्रिय विद्यार्थी पं० हरिहर निवास जी द्विवेदी जिस समय अपनी परीक्षा के लिए कबीर का अध्ययन कर रहे थे उसी समय उन्होंने हिन्दी के धुरंधर विद्वान और श्रेष्ठ समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शैली पर, कबीर पर एक समालोचना लिखने का दृढ़ निश्चय किया। अवकाश मिलते ही सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का अध्ययन कर उन्होंने यह आलोचना लिख डाली। हरिहर निवास जी के अध्यवसाय और साहित्य-प्रेम को देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है और उन की भूरि भूरि प्रशंसा करता हुआ भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि उन के हृदय में यह प्रेम दिन प्रति दिन उन्नत होता रहे और वे हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा करते हुए उसके भण्डार की वृद्धि करते रहें।

मेरे लिये पुस्तक के सम्बन्ध में कोई सम्मति देना उचित नहीं है। यह मेरे विद्यार्थी की कृति है और स्वभावतः यह मुझे अच्छी ही लगती है, पर यदि विद्वानों ने इस होनहार युवक के इस प्रयास को अपना कर उसे प्रोत्साहन प्रदान किया तो मेरा यह विश्वास है कि इस पुस्तक का लेखक निकट भविष्य में ही मातृभाषा की उन्नति का अत्यन्त सुन्दर आयोजन लेकर उपस्थित होगा।

लेखक ने पुस्तक को अठारह परिच्छेदों में विभाजित किया है और प्रत्येक परिच्छेद को योग्यता-पूर्वक निबाहा है। इसके अन्तर्गत ऐसे भी शीर्षक हैं जिनपर इसके पहले कभी प्रकाश नहीं डाला गया है। यद्यपि लेखक ने पुस्तक की सामग्री एकत्रित करने में प्राप्त पुस्तकों से भी सहायता ली है तथापि उसके विवेचन का ढंग क्रम और शैली मौलिक हैं। मैं लेखक के विचारों से सब ही स्थलों पर सहमत नहीं हूँ परन्तु उनका उद्योग परम सराहनीय है और उन्होंने विचार के लिये सामग्री उपस्थित कर दी है।

प्रेस के भूतों से यह पुस्तक भी नहीं बच सकी है। आशा है कि द्वितीय संस्करण में अशुद्धियां और भूलें ठीक हो जायँगी।

अन्त में यह अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर-सम्बन्धी प्रायः सभी बातों का विवेचन लेखक ने इस पुस्तक में किया है और यह कबीर के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

—अयोध्यानाथ शर्मा

लेखक का निवेदन

एम० ए० की परीक्षा के सम्बन्ध में श्रद्धेय पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा के चरणों में बैठ कर मुझे कबीर के गम्भीर और विस्तृत अध्ययन का अवसर मिला था। उसी समय इस पुस्तक का सूत्रपात भी हुआ था। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि उन्हीं के आशीर्वाद से अभिषिक्त होकर यह हिन्दी-संसार के सम्मुख जा रही है।

इस पुस्तक की रचना में कबीर का विश्लेषणात्मक दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है ऐसा करते समय उनके साथ पूर्ण सहानुभूति का भाव रखा गया है, जो सत्समालोचना के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। कबीर के आलोचकों को उनके धार्मिक सिद्धान्तों में नितान्त अस्थिरता दिखलाई दी। उन्हें उनके धर्म-सिद्धान्त निरूपण में 'धर्म-संकट, ज्ञात हुआ परन्तु इस सहानुभूति ने ही मेरे मार्ग से यह धर्म-संकट हटा दिया और 'कबीर के राम' में मुझे उनके क्रमिक धार्मिक-विकास के दर्शन हुए। परन्तु इस सहानुभूति ने कहीं भी अंध-विश्वास का रूप धारण कर तर्क की आँखों पर पर्दा नहीं डाला है। यदि मैंने कबीर के गुणों पर प्रकाश डाला है तो उनकी त्रुटियों के दिखलाने में भी कमी नहीं की।

इसके प्रथम तीन परिच्छेदों में कबीर के व्यक्तित्व, अगले दस परिच्छेदों में उनके धार्मिक सिद्धान्त एवं अन्तिम पांच परिच्छेदों में उनके कवित्व का विवेचन किया गया है। इस प्रकार मैंने अपनी शक्ति भर यह पूर्ण प्रयत्न किया है कि यह पुस्तक कबीर की एक सर्वाङ्गीण समालोचना के अभाव की पूर्ति कर सके। इसमें मुझे कहां तक सफलता मिली है इसका निर्णय करना मेरे अधिकार

की बात नहीं, और जिनके अधिकार में है उनकी अनुमतियों से लाभ उठाने के लिए मैं सदा प्रस्तुत हूँ ।

इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में सहाय्य एवं परामर्श देने के लिए मैं श्रद्धेय पं० काली शंकर जी शर्मा एम० ए०, एल-एल०बी० (अध्यक्ष, लॉ विभाग; सनातन धर्म कालेज, कानपुर) श्रद्धेय पं० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय एम० ए०, साहित्य-रत्न; तथा बन्धुवर चिरंजीवलाल जी अग्रवाल बी० ए० का हृदय से आभारी हूँ ।

अपनी पुस्तक 'काव्यकलाधर' से महात्मा कबीर के चित्र को इस पुस्तक में प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए मैं पं० राम बहोरी जी शुक्ल एम० ए०, साहित्यरत्न को अपनी तथा प्रकाशक की ओर से धन्यवाद देता हूँ ।

पंजाब प्रान्त में महात्मा कबीरदास जी का धार्मिक मसीहा के रूप में आदर हुआ है । कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि उसी प्रान्त में राष्ट्र-भाषा के सेवा-वृत में दीक्षित होकर श्रीयुत सर्वदयाल जी सूरी ने कबीरदास जी की यह समालोचना प्रकाशित की। पुस्तक की बाह्य सजावट का सम्पूर्ण श्रेय इसके प्रकाशक श्री सूरी महाशय को ही है ।

प्रियवर 'मिलिन्द' और 'प्रेमी' को धन्यवाद देकर मैं उनके असीम स्नेह का अपमान नहीं करना चाहता, परन्तु यहां उनका कृतज्ञता पूर्वक स्मरण किए बिना संभवतः मेरे हृदय को शान्ति भी न मिलती ।

कई कारणों से पुस्तक में छापे की अशुद्धियाँ बहुत रह गई हैं, इसका मुझे खेद है । पाठकों से प्रार्थना है कि वे इसे शुद्धि-पत्र के अनुसार ठीक करके ही पढ़ें ।

विद्यामन्दिर,
दिनारा,
ग्वालियर-राज्य
श्री बसन्त पंचमी १९९३.

विनीत,

हरिहर निवास द्विवेदी

समकालीन परिस्थितियाँ

जब समाज स्वनिर्मित बन्धनों में फँस, उत्पीड़न से त्राहि त्राहि कर उठता है तब विश्वेश्वर उसके सम्बल तथा पथ-प्रदर्शन के लिए अपनी दिव्य ज्योतिः-सम्भूत किसी शक्ति को प्रेषित कर उसे शान्ति प्रदान करते हैं। भगवान् के वाराह रूप धारण करने से लेकर तथागत बुद्ध तक के अवतारों का यही रहस्य है। जिस काल में जैसी परिस्थितियाँ हुई, उस काल में वैसी ही शक्ति ने उनका समाधान किया। महाभारत-काल में भगवान् बुद्ध अवतार नहीं ले सकते थे। हिरण्यकशिपु के राज्य में योगिराज कृष्ण की आवश्यकता न हो सकती थी तथा भगवान् का पशुबल प्रधान नृसिंहावतार महात्मा बुद्ध की समकालीन परिस्थितियों का समाधान न कर सकता था। अतः कहा जा सकता है कि महात्माओं का अवतार परिस्थितियों के अनुसार शक्ति और संदेशों सहित होता है। दूसरे शब्दों में, परिस्थितियाँ ही अपने अनुरूप महात्माओं का निर्माण कर लेती हैं। महात्मा कबीर को भी उनके काल की विशेष स्थितियों ने निर्मित किया था। अतएव उनकी आत्मा के दर्शन करने के लिये, उनकी अमर वाणी के वास्तविक संदेश को समझने के लिए उनकी समकालीन परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर लेना परमावश्यक है।

राजवंशों तथा राजाओं के परिवर्तन का भारतीय समाज पर उतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ता रहा है जितना पाश्चात्य

देशों पर। राजनीति की ओर से हमारी इस उदासीनता को तुलसीदास जी ने मंथरा के मुख से कहलाया है:—

'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।'

मुसलमानों के आक्रमण के पहले समाज में परिवर्त्तन करने वाले अशोक दो चार भी नहीं हुए तथा उन्होंने भी भारतीय संस्कृति के मूल आधार पर कोई आघात नहीं किया। बौद्धधर्म हिन्दू-धर्म के ही सिद्धान्त-रूपी स्तन्य से पोषित हुआ था और अन्त में उसी मातृधारा में मिल भी गया। परन्तु मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् स्थिति सर्वथा बदल गई। मुहम्मदग़ोरी ने जिस दिन अपने प्रबल पदाघात से हिन्दुओं के विजय-दर्प को चूर्ण कर अपने गुलाम को दिल्ली के उस महत्तम सिंहासन पर बैठाया था, जिसपर आरूढ़ व्यक्ति जगदीश्वर का अवतार समझा जाता था, उस दिन राजनीति की ओर से आँखें फेरे रहने वाले हमारे इस धर्मप्राण समाज द्वारा वपन किए हुए अन्तर्द्रोह एवं फूट के विषवृक्ष में कटु फल लगने आरम्भ हुए। यद्यपि मुसलमान विजेता इसी देश में बस गए और उनका शासन ब्रिटिश शासन की तरह सात समुद्र पार से न चलता था, तथापि शताब्दियों तक मुसलमान शासक अपनी हिन्दू और मुसलमान प्रजा को एक ही दृष्टि से न देख सके। राजपूतों की विशृङ्खल एवं दूरदर्शिता-रहित वीरता को राजपूताने के रेगिस्तान की शरण लेनी पड़ी। उनकी बारंबार की पराजय के प्रत्यक्ष सत्य के सामने चाटुकार राज्याश्रित कवियों को भी उनके यशोगान से विरत होना पड़ा। वीर कार्यों तथा विजयों के अभाव में वीर गाथाएँ समाप्त हो गईं।

रक्षक मुसलमान, न्याय कर्त्ता मुसलमान, नियामक मुसलमान,

शासक मुसलमान—हिन्दुओं की एक बारगी आँखें खुल गईं। गुलाम, ख़िलजी, तुग़लक, सैयद एवं लोदी वंश क्रमशः दिल्ली की गद्दी पर आए पर सबने समान रूप से काफ़िर बुतपरस्तों पर क़हर ढाने का ही प्रयत्न किया। अलाउद्दीन जैसे बादशाहों के शासन में तो उत्पीड़न की पराकाष्ठा हो गई। हिन्दुओं का धन तो दूर की बात है उनके तांबे-पीतल के बर्तन भी उन्हें अखरने लगे। ऐश-आराम, मान-मर्यादा आदि तो वीर विजेताओं के लिए, शासकों के लिए हैं, गुलामों का, हारे हुए गीदड़ों का उन पर क्या अधिकार? धन के साथ हिन्दुओं की दाराओं पर भी शासकों की लोलुप दृष्टि पड़नी स्वाभाविक थी। हिन्दू रमणियों को हरमों की श्री बढ़ाने के लिए बाध्य होना पड़ा। मान-मर्य्यादा के लिए सर्वस्व होमने वाले भीमसी अधिक न थे और अपने गौरव की रक्षा के लिए जौहर-व्रत-उद्यापन करने वाली राजपूत ललनाएँ भी बहुत नहीं थीं, अतः बाल-विवाह एवं पर्दे की प्रथा आरम्भ हुई। कन्याओं, बहनों, माताओं और पत्नियों की रक्षा की शक्ति के अभाव में बेचारे हिन्दुओं ने उन्हें घर में बन्द कर संतोष किया।

इतना ही नहीं, काफ़िर हिन्दुओं को नबी रसूल के पाक दामन में लाना मुसलमान बादशाह अपना पावन कर्त्तव्य समझते थे। लालच से, डर से, समझाने से, हर प्रकार से इस्लाम-धर्म का प्रचार किया जाने लगा। भूमिकर, जलकर, आयकर आदि की तरह हिन्दुओं को हिन्दू रहने का भी कर देना पड़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुस्लिम-विजय का भारतीय समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। समाज में बालविवाह, छुआछूत, पर्दाप्रथा आदि कुरीतियाँ मुसलमानों के संसर्ग का ही

परिणाम हैं। मुसलमानों की कट्टरता एवं हिन्दुओं की महत्ता के कारण यद्यपि हिन्दू और मुस्लिम समाज घुल मिल कर एक तो न हो सके, तथापि वे एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना भी न रह सके। यद्यपि ज्ञान-गर्वित पण्डित तथा ज़ाहिदेखुश्क मौलवी उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की तरह अलग ही रहे तथापि साधारण जनता में सौहार्द बढ़ता ही गया।

यद्यपि राजपूत-रक्त सतत मुस्लिम सत्ता का विद्रोह करके स्वतन्त्रता देवी का तर्पण करता रहा तथापि यह कहा जा सकता है कि देश में उस नपुंसकता का सूत्रपात हो चुका था जिस के परिणाम स्वरूप आज हमें सामाजिक रूप में हथियार रख देने पड़े हैं। उसके मूल में अंशतः बौद्ध और जैन धर्म का अहिंसा प्रचार भी है। मुस्लिम धर्म का एक प्रभाव वर्णाश्रम-धर्म की शिथिलता के रूप में भी दृष्टिगोचर हुआ। मुसलमानों में नीच-ऊँच का भेद-भाव नहीं है। इस समानता को द्विजातियों के दुर्व्यवहार से पीड़ित शूद्रों ने बड़ी लोलुप दृष्टि से देखा। परिणाम-स्वरूप सांसारिक कार्य्यों में न सही, कम से कम ईश्वर के दरबार में तो भगवान् की समस्त संतान की समानता स्वीकार करने का विचार उत्पन्न हुआ। महात्मा रामानन्द के शिष्यों में दरज़ी, मोची, धुनिया, जुलाहे आदि निम्न जातियों के व्यक्ति भी थे। उन्होंने स्त्रियों को भी भक्ति का वही अधिकार दिया, जो पुरुषों को प्राप्त था। उनकी शिष्य-मंडली में दो स्त्रियों को भी स्थान मिला।

शंकर भगवान् ने भारत से बौद्ध धर्म का उन्मूलन कर दिया तथा उसके स्थान पर अपना अद्वैतवाद चलाया। परन्तु उनका अद्वैतवाद ज्ञानमूलक था। वह वैयक्तिक साधना के ही उपयुक्त

था। अतएव, जन-समाज की आत्मतुष्टि उससे न हुई। श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद चलाया जिसमें सगुणोपासना को स्थान मिला। इन आचार्यों की परम्परा के कारण वैष्णव-धर्म का देश में प्रसार हो रहा था। बौद्धधर्म के नष्ट हो जाने पर भी उसकी महायान शाखा द्वारा प्रचारित मूर्ति पूजा का लोप न हो सका था तथा शाक्त, गोरखपंथ आदि सम्प्रदाय भी देश में चल रहे थे। जैन धर्म का स्रोत भी अपने मंथर प्रवाह से बह रहा था। मूर्तिपूजा एवं सगुणोपासना से साधारण जनता की आत्मतुष्टि होनी आरम्भ हो गई थी। पर महमूद ग़ज़नवी की गदा के प्रहार ने सहस्रशः अन्धविश्वासी हिन्दुओं की आँखों के सामने सोमनाथ के मंदिर में दुष्ट दलन भगवान् की मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और मूर्तिपूजा को गहरी चोट पहुँचाई। मंदिर पर मंदिर टूटते थे, भक्तों के रक्त से पृथ्वी सींची जाती थी, पुजारियों की प्राणाधार धनराशि लुट जाती थी तथा राज-मंदिर में मूर्तिखण्ड विधर्मियों के पदत्राणों से गेंद की तरह ठोकरें खाते थे। परन्तु वह सब कुकृत्य, वे प्रस्तर मूर्तियां अपनी निश्चेष्ट एवं निश्चल आँखों से देखा करतीं। द्रोपदी का चीर बढ़ाने वाले ने एक पट्टी भी भक्तों के व्रणों पर न बाँधी। भयानक दानवों को क्षण भर में मार डालने वाले ने आततायियों के शरीरों पर अपने प्रस्तर-खण्डों से भी प्रहार न किया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-समाज मूर्ति-पूजा का अवलम्ब अधिक समय तक न ले सका। साथ ही मूर्तिपूजा हमारे विजेताओं के धर्म के सर्वथा प्रतिकूल थी, अतः इसका प्रचार उत्तरोत्तर क्षीण होने लगा।

हिन्दुओं की प्रतिभा एवं शक्ति के विकास के सब द्वार बंद कर दिए गए थे। उनका जीवन निरानन्द हो गया था। उनका राज्य

गया, धन गया और अब धर्म भी क्रमशः जा रहा था। ऐसे समय में केवल भगवान् का ही सहारा रह गया था। मूर्ति पूजक बहु-संख्यक जनता का वह आधार भी थोथा हो गया था। ऐसे समय में यह आवश्यकता थी कि जनता के सम्मुख धर्म का ऐसा रूप लाया जाय जो उस निराशा के काल में उसे थोड़ी आत्मतुष्टि दे सके और साथ ही मुसलमानों का कम से कम विरोधभाजन बने। इसी आवश्यकता ने निर्गुण सम्प्रदाय को जन्म दिया।

साथ ही हिन्दी साहित्य और भाषा की तत्कालीन स्थिति भी अस्तव्यस्त एवं अव्यवस्थित थी। उस समय हिन्दी ने कठिनता से अपना शैशव पार किया था। यद्यपि उस समय तक हिन्दी में प्रचुर मात्रा में रचना हो चुकी थी तथापि उसका कोई निश्चित रूप नहीं था। प्रत्येक प्रान्त की अलग भाषा थी। मुसलमानों ने फ़ारसी को राजभाषा बना दिया था। अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ रहा था। इधर ब्राह्मण लोग देववाणी संस्कृत को अपनाए हुए थे। हिन्दी में रचना करना हेय समझा जाता था। इन्हीं कारणों से कबीर की भाषा में एकरूपता या स्थिरता के दर्शन नहीं होते।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब महात्मा कबीर का प्रादुर्भाव हुआ तब देश में राजनीतिक अशान्ति व्याप्त थी, हिन्दू और मुस्लिम समाज के संघर्ष से नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही थीं, समाज में अन्धविश्वास एवं कुरीतियाँ फैल रही थीं, धार्मिक विश्वास में अस्थिरता आ रही थी, मूर्तिपूजा और सगुणोपासना की जड़ें गल गई थीं तथा हिन्दी का कोई स्थिर रूप नहीं था।

इन परिस्थितियों से पूर्णतः प्रभावित होकर इनके कुप्रभाव के समाधान के लिए ही महात्मा कबीर अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने अपने धार्मिक सिद्धान्तों को अद्वैतवाद और सूफ़ीमत पर स्थित किया और इस प्रकार वे हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐक्य बढ़ाने में प्रयत्नशील हुए। दोनों धर्मों की खरी तथा मिलती जुलती बातों का उन्होंने संग्रह किया। साथ ही दोनों की बुराइयों का निर्भय स्वर से खंडन भी किया। उनका यह सैद्धान्तिक समन्वय परिस्थितियों का ही परिणाम था। मुसलमानों के प्रबल विरोध के रहते हुए एकेश्वर वाद तथा निर्गुणोपासना ही पनप सकते थे। मूर्ति-पूजा की निस्सारता सिद्ध हो जाने के पश्चात् यह 'अटपटी वानी' में वर्णित 'निर्गुण' ही समाज को थोड़ा बहुत सहारा दे सकता था। कबीर का जाति-पाँति का विरोध ही अछूतों को हिन्दू बनाए रह सकता था।

तत्कालीन समाज के हिन्दुओं और मुसलमानों में सद्भाव उत्पन्न करने वालों की, जनता को धर्म पर स्थिर करने वालों की, पण्डितों और मौलवियों की विज्ञता के बोझ से साधारण जनता को बचाकर उसे उसी की भाषा में ईश्वर का ज्ञान कराने वालों की, संक्षेप में, सत्य के अन्वेषकों की तथा असत्य के विरोधियों की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता ने निर्गुण-पंथी संतों को जन्म दिया, जिनमें प्रथम और प्रधान महात्मा कबीर दास हैं।

जीवन-वृत्त

संसार को अपनी सुरभि से मुग्ध करने वाले सुमन को पोषक-सामग्री दो प्रकार से मिलती है। एक तो, बाह्य प्रकृति उसे वायु, सूर्य-रश्मि, चन्द्र-किरण आदि से पुष्ट करती है, दूसरे उसका वृन्त पृथ्वी से रस लेकर उसमें जीवन-संचार करता है। इसी प्रकार कवि का साहित्य-सुमन भी दो प्रकार के खाद्य से पोषित होता है। एक तो कवि की बाह्य परिस्थितियों से, दूसरे उसके निजी जीवन से। उसका साहित्य-प्रसून उसके जीवन वृत्त से रस लेकर उत्फुल्ल होता है और अपनी मधुर सुगन्ध से काव्य-प्रेमी मिलिन्दों के मनों को मोहित करता है। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि वह उन दोनों प्रकार की सामग्रियों से सर्वथा भिन्न एवं श्रेष्ठ होता है।

कबीर की बाह्य परिस्थितियों पर विचार हो चुका, अब उनके निजी जीवन पर भी एक दृष्टि डालनी है। उनके काव्य की विशेषताओं को पूर्णतः समझने एवं उनसे पूर्ण सौहार्द्य स्थापित करने के लिये यह आवश्यक भी है।

कबीर का जीवन-वृत्त लिखने का प्रयास करते समय दो कठिनाइयाँ विशेष रूप से उपस्थित होती हैं। भारतवर्ष के भक्त कवियों की यह प्रणाली रही है कि वे अपने विषय में बहुत कम लिखते थे। कबीर ने भी अपने विषय में अधिक नहीं कहा जो कुछ अपने विषय में उन्होंने कहा भी है वह अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के रूप में। अतः, प्रथम कठिनाई तो यह है कि

उनकी रचनाओं से उनके जीवन पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता, दूसरी कठिनाई उनकी शिष्य-मंडली ने उपस्थित की है। उन्होंने कबीर के जीवन को लौकिक रूप में देखना पसन्द न किया, अतः उसके साथ बहुत सी अलौकिक किंवदन्तियों को गुम्फित कर दिया। ऐसी दशा में शुद्ध सत्य को ढूँढ निकालना कठिन होगया है। इन कठिनाइयों के कुहरे में से कबीर के जीवन-वृत्त का जो ढाँचा दिखाई देता है, वह भी इनकी रचनाओं की तरह रहस्य से परिपूर्ण है। अस्तु।

नीरू नामक काशी का एक मुसलमान जुलाहा जब अपनी पत्नी नीमा का द्विरागमन कराकर घर वापिस लौट रहा था, तब उसने लहरतरा नामक तालाब के पास एक नवजात शिशु पाया। उस दयामय दम्पति ने उस बालक को ईश्वर की देन समझ कर औरस पुत्र की भाँति पाला। जब वे क़ाज़ी से इस शिशु का नाम पूछने गए तो क़ाज़ी महाशय के कुरान शरीफ़ खोलने पर पहला शब्द 'कबीर' निकला। अतः इस बालक का नाम 'कबीर' ही रख दिया।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि कबीर संभवतः नीमा और नीरू के औरस पुत्र थे। परन्तु इस मत के समर्थन में महात्मा रैदास अथवा महात्मा पीपा का जो पद दिया गया है उससे उपर्युक्त जन-श्रुति पर हमारा विश्वास कम नहीं होता। वह पद इस प्रकार है—

'जाके ईद बकरीद कुल गऊ रे बध करहिं,
मानियहिं शेख शहीद पीरा।
जाके बाप ऐसी करी, पूत ऐसी धरी,
तिहुँरे-लोक परिसिध कबीरा॥

इसमें 'बाप' से तात्पर्य्य केवल पालन-पोषण करने वाले पिता से भी हो सकता है।

किन्तु वास्तविक कठिनाई तो तब उत्पन्न होती है जब यह प्रश्न सामने आता है कि यह शिशु तालाब के किनारे आया कहाँ से ? श्रद्धालु कबीर-पंथियों का कहना है कि शुभ मुहूर्त में सत्पुरुष ने माया के जाल से संसार का उद्धार करने के लिए इस महापुरुष को आकाश-मंडल से एक सुन्दर विकसित कमल पर उतारा। वहीं भाग्यवान् नीमा नीरू ने उसे पाया। किन्तु उस समय की कुरीतियों से प्रभावित कठोर वास्तविकता-वादियों का कहना है कि यह बालक किसी विधवा के कलंक का जीवित प्रमाण था। इस मत को भी गौरवान्वित बनाने के लिए इस में यह जोड़ दिया गया है कि उस विधवा को स्वामी रामानन्द जी ने भूल से 'पुत्रवती भव' का आशीर्वाद दे दिया था। उसी आशीर्वाद का परिणाम यह बालक था।

महात्मा कबीर के बाल्य-काल के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बचपन ही से इन्हें भगवद्भक्ति का रस मिल गया था। मुसलमान पालकों के यहाँ रहने पर भी इनका झुकाव स्वामी रामानन्द प्रचारित राम नाम की ओर ही अधिक था। इसके कारण ब्राह्मणी माता के गर्भ से पैदा होने के संस्कार, काशी का प्रभाव एवं रामानन्द जी द्वारा निर्मित राम-मय वायुमण्डल ही हो सकते हैं। संभव है इस राम-प्रेम ने 'ईद बकरीद' शेख, शहीद, पीरा' आदि मानने वाले मुसलमान जुलाहे के यहाँ पलने वाले कबीर का बाल्य-काल संकटपूर्ण बना दिया हो। निम्नलिखित पद उनकी इस विषम परिस्थिति की ओर संकेत भी करता है—

नित उठ कोरी गगरी आनै लीपत जीउ गयो।
ताना बाना कछू न सूझै हरि-रस लपट्यो ॥
हमारे कुल कउने रामु कह्यौ।

कबीर को इस्लाम—धर्मोचित नियम छोड़ हिन्दूधर्म की ओर प्रवृत्त होते देख कर लोगों ने अवश्य ही उन्हें 'पागल' एवं बिगड़ा हुआ लड़का बतलाया होगा। उन्होंने संभवतः उसी का स्मरण कर लिखा है—

'सब दुनी सयानी मैं बौरा,
हम बिगरे बिगरौ जिनि औरा ॥ टेक ॥
मैं नहिं बौरा, राम कियो बौरा,
सतगुरु जारि गयौ भ्रम भौंरा ॥
विद्या नहिं पढ़ूं बाद नहि जानूं,
हरि गुन कथत सुनत बौरानूं ॥
काम क्रोध दोऊ भए बिकारा,
आपहि आप जरै संसारा ॥
मीठो कहा ? जाहि जो भावै,
दास कबीर राम गुन गावै ॥

इस राम-भक्ति में पड़ कर कबीरदास जी अपने पैतृक व्यवसाय की भी उपेक्षा करने लगे। उससे उनके भजन में गड़बड़ जो पड़ती थी ! जब नीमा बीबी ने यह शंका की कि 'ऐ खुदा ! यह लड़का अपनी ज़िन्दगी किस तरह बसर करेगा ?' तब कबीरदास जी ने उत्तर दिया कि माता जी, आप चिन्ता न करें, भगवान् सब के निर्वाह का प्रबंध करता है।

'तानना बुनना तज्या कबीर,
राम नाम लिख लिया सरीर ॥

जब लग भरौं नली का बेह,
तब लग टूटे राम सौं नेह ॥
ठाढ़ी रोवै कबीर की माय,
ऐ लरिका क्यूँ जीवैं खुदाय ॥
कहै कबीर सुनहु री माई,
पूरणहारा त्रिभुवनराई ॥

बड़े होने पर जब इन्हें ज्ञात हुआ कि निगुरा रहने से साधना में असफल हो जाने की आशंका है, तब इन्हें गुरु बनाने की चिन्ता हुई। इनकी दृष्टि स्वामी रामानन्द जी पर गई। मुसलमान पिता के यहाँ पोषित होने के कारण रामानन्द जी ने इन्हें शिष्य बनाना स्वीकार न किया। परन्तु कबीर इतनी कच्ची धातु के बने हुए न थे। उन्होंने एक अचूक युक्ति सोची। स्वामी जी सूर्योदय के पहले ही गंगा-स्नान करने आया करते थे। वहां सीढ़ियों पर आकर कबीर लेट गए। ज्यों ही स्वामी जी का पैर इनकी देह से टकराया, वे बोल उठे-'राम राम'। बस, कबीरदास जी ने पैर पकड़ लिए और उसी राम-मंत्र को गुरु-मंत्र के रूप में ग्रहण कर लिया।

परन्तु कुछ लोगों का मत है कि कबीर झूँसी के शेख़ तकी नामक सूफ़ी महात्मा के शिष्य थे। किन्तु यह बात सर्वथा अमान्य है। कबीर की रचना ध्यान से पढ़ने वाले को यह भ्रम कदापि नहीं हो सकता। कबीर का काव्य रामानन्द जी के मूल-मंत्र 'राम' से ओत प्रोत है। वे स्वयं अपना रामानन्द-द्वारा चेताया जाना स्वीकार करते हैं। उनके प्रधान शिष्य धर्मदास ने भी लिखा है—

'कासी में प्रगटे दास कहाए,
नीरू के गृह आए।

रामानन्द के शिष्य भए,

भव-सागर पंथ चलाए।

दूसरी ओर शेख़ तक़ी के गुरु होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कबीर ने कहीं भी उन्हें गुरु के रूप में स्मरण नहीं किया है।

किन्तु, रामानन्द का शिष्यत्व भी नाम-मात्र का ही था। कबीर के 'राम' आगे रामानन्द के 'राम' से भिन्न हो गए। उन्होंने अपना निज़ी संप्रदाय चलाया; हिन्दू एवं मुसलमान दोनों धर्मों के संतों से सत्सङ्ग कर अपनी असीम ज्ञान-पिपासा को शांत किया। इनका सत्संगी होना प्रसिद्ध है। बचपन में अथवा आगे चलकर कभी उन्हें नियमित पाठशाला की अथवा धार्मिक शिक्षा नहीं मिली। उनका ज्ञान यात्रा एवं सत्संग द्वारा स्व-अर्जित था। उन्होंने उस समय के सभी मतों के महात्माओं से ज्ञान-लाभ किया था। यह सत्य उनकी रचनाओं से स्पष्ट झलकता है। हिन्दू धर्म के तत्त्वों से तो ये पूर्ण रूप से परिचित थे, उन्होंने नाथ-पंथियों से हठयोग की बातें भी सीखी थीं। सूफ़ी मत भी मुसलमानों के साथ-साथ भारतवर्ष में आया था। उस मत के महात्माओं से भी कबीर ने ज्ञान-लाभ किया था। इनके विषय में कबीरदास जी ने स्वयं लिखा है—

'मानिक पुरहिं कबीर बंसेरी, मदहति सूनि सेख तकि केरी।
अजी सुनी जवनपुर थाना, झूंसी सुनि पीरन के नामा॥

कबीरदास जी ने विवाह किया था अथवा नहीं, इस बात पर भी विद्वानों में मतभेद है। परन्तु हमारे विचार में तो उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश अवश्य किया था। यदि ऐसा न होता

तो वे बचपन से उपेक्षित ताने बाने के झगड़े में पुनः क्यों पड़ते ? कबीरदास जी अपना विवाह होना स्वयं ही स्वीकार करते हैं—

'नारी तो हम भी करी, पाया नहीं विचार ।
'जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा विकार ॥'

इसके अतिरिक्त लोई को सम्बोधित करके उन्होंने कुछ पद भी कहे हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि आरम्भ में कबीर-दास जी और लोई अवश्य ही दम्पति के रूप में रहते होंगे। यह संभव है कि पीछे से यह गुरु और शिष्य के रूप में साथ साथ रहने लगे हों।

यह भाग्यवती लोई कबीरदास जी के उपयुक्त पात्री भी थीं। एक वनखण्डी वैरागी को माता जान्हवी के किनारे एक बालिका पड़ी हुई मिली। यह बालिका कहां से आई ? सम्भवतः यह भी कबीर की तरह किसी विधवा के कलंक की निशानी रही हो, पर इस विषय में लोगों ने कोई अनुमान नहीं लगाया और न कोई अलौकिक कथा ही जोड़ी । कबीर के समान कबीर-जाया को महत्त्व देने की सम्भवतः आवश्यकता नहीं समझी गई । यह अवश्य कहा जाता है कि लोई में लिपटी हुई मिलने के कारण इसके पालक ने इसका नाम लोई रख दिया।

यह कन्या जब बड़ी हुई तो उस वैरागी ने उसे अतिथि सेवा पर नियुक्त कर दिया। एक दिन कबीर उस वैरागी के यहां अतिथि हुए। एकान्त था और दोनों ही युवा थे । अतः सम्भव है कि कबीर 'विचार न पाने' के कारण लोई पर अनुरक्त हो गए हों। उनके आने के पश्चात् ही पाँच और साधु आए। लोई ने उन साधुओं को कुछ दूध दिया । उन्होंने उसे सात भागों में बांट दिया। पाँच भाग तो उन्होंने ही ले लिए और एक-एक भाग कबीर

और लोई को दिया। कबीर ने अपना भाग स्वयं न पीकर रख दिया। बाद में लोई के कारण पूछने पर कबीर ने एक नवागत साधु की ओर इंगित करके कहा कि यह भाग उस के लिए है। इस सज्जनता तथा अज्ञात-दर्शिता को देख कर कहते हैं, लोई उन पर मुग्ध हो गई और उनके साथ हो ली। इनकी कमाल और कमाली नामक दो सन्तानें भी कही जाती हैं। यह कहावत सम्भवत: सभी जानते हैं—

'डूबा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।'

किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कमाल ने अपने महात्मा पिता का विरोध किया था अथवा वे कुपुत्र थे। यह तो उस त्यागी पिता ने इसलिए कह डाला था कि उसका पुत्र—

'हरि का सुमिरन छाँड़ि के घर ले आया माल॥'

महात्मा कबीर का उपदेश बड़ा खरा, मर्मस्पर्शी एवं समयानुकूल था। इस कारण उनके जीवन-काल में ही हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही जातियों के अनेक व्यक्ति उनके अनुयायी और समर्थक हो गए थे। कबीर के अनुयायी मण्डल में बड़े-बड़े नवाब और सरदारों से लेकर साधारण जनता तक थी। परन्तु वर्तमान समय के समान बहुमत निम्न श्रेणी के लोगों का ही रहा होगा।

परन्तु जहाँ उनके अनुयायी बहुत से थे, वहां उनके विरोधियों की संख्या भी कम न थी। प्रत्येक युग में सुधारक महात्माओं को यह कटु अनुभव करना ही पड़ता है। अपने विश्वास के कारण उन्हें प्राय: अपने प्राण तक देने पड़े हैं। अपने उद्धारकर्त्ताओं एवं सुधारकों को सूली पर चढ़ाना चिरंतन काल से मानव-समाज का एक व्यसन सा रहा है। सुधारकों

पर पत्थर बरसाने की आदत प्रत्येक काल की और प्रत्येक जाति की जनता को मानो अनादि काल से विरासत में मिली है। कटुसत्यवादी कबीर इस व्यापक सत्य के अपवाद कैसे हो सकते थे। उनका खण्डन तो एकदम तीव्र और हृदय-वेधी होता था। कहते हैं जब सिकन्दर लोदी काशी आया तो लोगों ने उसे इनके विरुद्ध खूब भड़काया। सामना होने पर जब उन्होंने स्वयं ब्रह्म होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तब वह और भी कुपित हुआ और इन्हें अनेक यातनाएँ दीं तथा अन्त को राज्य से निर्वासित तक कर दिया।

अपने तीक्ष्ण खंडन-मंडन द्वारा कबीर ने विद्वान् पंडित एवं मौलवियों को भी अपना शत्रु बना लिया था। उन के आडम्बरों की पोल खोलना, जनता को उन के ढकोसले से सचेत करना उनका प्रमुख कार्य था। मौलवियों का कोप तो सिकन्दर लोदी के द्वारा उत्पीड़न के रूप में प्रकट हुआ था और पण्डितों की कृपा से कबीर को अन्त समय में काशी-धाम छोड़ना पड़ा। पण्डितों का विरोध ही काशी छोड़कर मगहर जाने का प्रधान कारण था। कबीर ने लिखा है—

'सकल जनम सिवपुरी गँवाया।
मरति बार मगहर उठि धाया॥'

इसका कारण बतलाते हुए वे लिखते हैं—

'कहु गुरु गाजि सिव संभु को जानै।
मुआ कबीर रमत श्री रामै॥'

कबीर तो अपने राम को ही सब कुछ समझते थे। राम-नाम उनकी 'निर्गुण-भक्ति' का सार था। भला वे काशी-विश्वनाथ की महिमा क्यों गाते? इसी धार्मिक मत-भेद के कारण अन्त में

उन्हें काशी छोड़ देनी पड़ी। परन्तु काशी छोड़ते समय वे लोगों को एक प्रकार की चुनौती सी देते गए—

'कासी मगहर सम बीचारी।
ओछी भगति कैसे उतरै पारी॥'

कबीर की भक्ति ऐसी ओछी नहीं जो उन्हें काशी छोड़ने पर नरक जाने अथवा मोक्ष न मिलने का डर हो। उन की भक्ति तो खरी है। उन के राम में वह शक्ति है कि कबीर कहीं भी देह-त्याग करें, उन्हें मोक्ष अवश्य मिलेगा। मोक्ष पाने के लिये उन्हें काशी की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं। वे कहते हैं—

'क्या कासी क्या मगहर ऊसर,
राम हृदय बस मोरा।
जौ कासी तन तजै कबीरा,
तौ रामै कौन निहोरा॥'

परम धार्मिक कबीर की राय में किसी स्थान-विशेष पर मृत्यु होने को मुक्ति-साधन में बाधक बतलाना अपनी नास्तिकता प्रकट करना है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि मगहर में मरने से गधा होता है। इस पर कबीरदास जी लिखते हैं—

'मगहर मरै सौ गदहा होई।
भल परतीति राम सों खोई॥'

जन्म की तरह कबीर का निर्वाण-वृत्तान्त भी रहस्य से गुम्फित है। कबीर के मुसलमान एवं हिन्दू अनुयायी अपने २ धर्म की रूढ़ि के अनुसार उनके शव का अंतिम संस्कार करना चाहते थे। झगड़ा अनिवार्य था। काशी-नरेश वीरसिंह बघेला एवं नवाब बिजलीखाँ पठान लड़ने तक को तैयार हो गए। कहते हैं, उसी समय आकाश-वाणी हुई। उस के अनुसार शव पर से

चादर उठाकर देखा गया। वहाँ थोड़े से फूलों के अतिरिक्त और कुछ न मिला।

इस आकाशवाणी के स्थान पर यह विचार अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि महात्मा कबीर ने ही मृत्यु के पूर्व अपनी शिष्य-मंडली को रक्तपात से बचाने के लिए यह युक्ति की होगी। कहते हैं कि मृत्यु के पूर्व वे कमल के फूल और चादर मँगाकर लेट गए थे। जो कुछ भी हो, वे फूल दोनों दलों में बाँट दिए गए। हिन्दुओं ने उन का दाह-संस्कार किया तथा भस्म की काशी में समाधि बनाई, जो 'कबीर चौरा' के नाम से प्रसिद्ध है। मुसलमानों ने अपने भाग के फूलों को मगहर में ही समाधिस्थ किया। यह दोनों स्थान कबीर-पंथियों के लिए पवित्र तीर्थ-स्थान हैं।

अन्ध-श्रद्धालु शिष्य-मंडली ने जीवन-वृत्त की तरह महात्मा कबीर के जन्म और मृत्यु के संवतों में भी अलौकिकता उत्पन्न कर दी है। कबीर-पन्थी लोग कबीर साहब की आयु तीन सौ वर्ष की बतलाते हैं। वे उन का जन्म संवत् १२०५ और मृत्यु संवत् १५०५ कहते हैं। इस बात पर हम न तो विश्वास कर ही सकते हैं और न करने की आवश्यकता है। क्योंकि उनके शिष्यों में ही उनके जन्म और मृत्यु संवतों के विषय में दो पद प्रसिद्ध हैं। जो अधिक विश्वसनीय एवं युक्ति-संगत ज्ञात होते हैं। जन्म के विषय में यह पद कहा जाता है—

'चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्र बार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसाइत को पूरनमासी प्रगट भए॥'

अतः कबीरदास जी का जन्म-संवत् १४५६ हुआ। 'कबीर-कसौटी' के लेखक ने कबीर का जन्म संवत् १४५५ लिखा है। परन्तु संभवतः उन्होंने 'चौदह सौ पचपन साल गए' के 'गए'

शब्द पर विचार नहीं किया, जिस का अर्थ 'बीत जाने पर' है।

मृत्यु के विषय में प्रसिद्ध है—

संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादसी रलौ पवन में पवन॥'

इस प्रकार कबीर की निर्वाण-तिथि संवत् १५७५ माघ सुदी एकादशी मानी जानी चाहिए। इन संवतों के अनुसार महात्मा कबीर की आयु ११६ वर्ष की हुई, जो आज कल भी न तो अलौकिक ही है और न असंभव।

स्वभाव

महात्मा कबीर के जीवन-वृत्त और उपदेशों पर विचार करने के पश्चात् यह अनुमान किया जा सकता है कि उन का स्वभाव कैसा होगा ! यह निश्चित है कि 'कथनी और करनी' में अटूट सम्बन्ध स्थापन का उपदेश देने वाले कबीर ने अपने उपदेशों के अनुसार स्वयं भी आचरण किया होगा । यह सत्य उनकी जीवनी से बहुत कुछ सिद्ध भी होता है ।

सर्वोपरि कबीर सत्यान्वेषी थे । असत्य के त्याग और सत्य के ग्रहण के लिये उन्होंने सब कुछ किया । सत्य की खोज में ही कबीर ने सारा जीवन खपाया था । महान् आत्म-चिन्तन के पश्चात् उन्होंने जीवन के इस प्रमुख तत्त्व का पता लगाया था । यही कारण है कि उन के खण्डन एवं मंडन दोनों में ही असीम दृढ़ता आ गई थी । उन की दृष्टि में जो बात सत्य थी उसे उन्होंने निर्भीक होकर भारत-सम्राट् सिकन्दर लोदी तक पर प्रकट कर दिया । उन्होंने चिन्ता न की कि इस के कारण उन्हें अनेक यातनायें सहनी पड़ेगी । काशी से उन्हें अपार प्रेम था ।'काशी का जुलाहा' होने का उन्हें गर्व भी था । परन्तु उस काशी को भी सत्य के कारण परित्याग करने में उन्होंने आनाकानी न की । उनके चरित्र की यह असीम दृढ़ता और निर्भीकता उन के उपदेश की पंक्ति पंक्ति से झलकती है ।

कबीर की स्पष्टवादिता और खरापन उनके विशेष गुण हैं । 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्' का 'सत्यं ब्रूयात्' तो उन्होंने अपनाया,

परन्तु यह चिंता कभी न की कि वह किसी को प्रिय लगेगा अथवा अप्रिय। उन्हें चरम सत्य का बोध हो चुका था। वे ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। अब यदि संसार उनकी बातों पर हंसे, अथवा बिगड़े तो वे उसकी परवाह क्यों करने लगे—

'हस्ती चढ़िए ज्ञान का सुरत दुलीची डार।
स्वान रूप संसार है भूषण दे झषमार॥'

कबीरदास जी स्वावलम्बी थे। वे अपने निर्वाह के लिए या तो भगवान् पर आश्रित रहते थे या अपनी स्व-अर्जित कमाई पर। भीख मांग कर पेट पालना वे नितान्त घृणित कार्य समझते थे—

'मांगन मरन समान है, मत कोई मांगौ भीख।
मांगन ते मरना भला यह सतगुरु की सीख॥'

यह प्रसिद्ध है कि अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए कबीरदास जी आजीवन करघे पर ताना-बाना पूरते रहे वे ज्ञान की बातें बनाकर समाज पर अपने पालन का भार डालने वाले निकम्मे साधुओं में न थे, बल्कि परम स्वावलम्बी कर्मयोगी थे।

आदर्श गृहस्थ के घर के समान इस थोड़ी सी कमाई में से अभ्यागत एवं सन्तों की सेवा भी होती रहती थी। साधु सेवा उनकी प्रकृति का एक अंग बन गई थी। सत्संग के प्रेम एवं अपनी अपार ज्ञान-पिपासा के कारण वे बिना अक्षर-ज्ञान के ही वेदान्त, हठयोग, सूफ़ीमत आदि के रहस्यों से परिचित हो सके। वे सत्संग को ज्ञानार्जन का साधन बनाते और इस के लिए संतों के पास लम्बी यात्राएं करके तो जाते ही थे, इसके अतिरिक्त वे घर पर आए हुओं का आदर-सत्कार कर उन्हें दान देने को भी साहब के पाने का साधन समझते थे—

'कबिरा हरि के मिलने की राह सुनी हम दोय ।
कै साहब का नाम लै, कै कर ऊंचा होय ॥'

जब थान बुन कर बाज़ार में बेचने को ले जाते तो कभी कभी सब का सब साधुओं को देकर खाली हाथ घर लौट आते । इन के घर पर साधुओं का ताँता-सा लगा रहता । यह कथा भी बहुत प्रसिद्ध है कि एक बार कबीर के घर पर बहुत से साधु आए। उनके लिए उनके यहाँ कोई स्वागत-सामग्री नहीं बची थी । इस पर इनकी स्त्री लोई ने कहा कि एक धनिक-पुत्र मुझ पर आसक्त है। मैं उस के पास जाऊँ तो वह अवश्य ही मुझे धन दे देगा। संभवतः यह घटना (यदि सत्य होगी तो) उस समय की है, जब कबीरदास जी अपनी साधुता के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। धन तो उन्हें वैसे भी मिल जाता, किन्तु उस धनिक की आँखें खोलने के लिए वे बरसते पानी में लोई को उठाकर तथा अपने कन्धे पर बैठाकर उस के घर ले गए। जब उसने लोई के इस प्रकार बिना भीगे आ सकने का कारण पूछा तो उसने सब कथा कह सुनाई । इस पर उस कामान्ध युवक के ज्ञान-चक्षु खुल गए। वह कबीर और लोई के पैरों पर गिर गया । इस कथा की सत्यता पर सन्देह होना तो प्राकृतिक है, परन्तु कबीर के अपने साधनों के अनुसार महान् दानी और परोपकारी होने में कोई संदेह नहीं ।

इस दान और साधु-सेवा के कारण कबीरदास जी सदा अर्थ-संकट में ही रहे। माया के वैरी जो ठहरे ! उनका जीवन भगवान् से यही कहते बीतता था—

'दुई सेर मांगौं चूना । पाव घीउ संग लूणा ।
आध सेर मांगौं दाले । मो को दोनों बखत जिमाले ॥'

किन्तु यह कभी न भूल जाना चाहिए कि यह माँगना था उसी जगत्पति के दरबार में, और किसी के सामने नहीं।

ऐसी परिस्थितियों में भी संतोष से रहना कबीरदास जी ने सीख लिया था। सन्तोष तो वे संतों का प्रधान गुण बतलाते हैं। जो कुछ मिल जाय उसी में मस्त रहना जगत् का 'साहंसाह' बन जाना है। इस संतोष-रूपी धन के सामने सब धन तुच्छ हैं—

'चाह गई चिन्ता गई मनुवाँ बेपरवाह।
जिन को कछू न चाहिए वे ही साहंसाह॥
गोधन गजधन बाजि धन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूर समान॥'

कबीर की दयालुता का तो कहना ही क्या! संसार पर माया का अत्याचार होते देख और उससे द्रवित होकर ही तो उन्होंने आत्म-चिन्तन में विघ्न डाल कर उपदेशक का यह बाना पहना था। जहां कबीर की दयालुता के विस्तृत रूप का यह उदाहरण है, वहां उनकी व्यक्तिगत दयालुता का भी प्रबल प्रमाण उपस्थित है। कबीर ने लोई का साथ आजीवन न छोड़ा। वे जानते थे कि पति के वियोग में पत्नी को बड़ा विषम दुःख उठाना पड़ता है। उनकी दयालुता एवं सहृदयता ने पत्नी को निराश्रित छोड़ने की अनुमति न दी। इस विषय में हम तो कबीर को गोस्वामी तुलसीदास जी से कहीं अधिक सहृदय और दयालु पाते हैं। गोस्वामी जी तो अपनी पत्नी को 'खरिया खरी कपूर' की तरह भी साथ रखने को तैयार न हुए थे।

महात्मा कबीर में उदाराशयता भी असीम थी। वे भाव-जगत् के उस ऊंचे प्रस्तर पर रहते थे, जिस तक संकीर्णता की पहुंच हो ही नहीं सकती थी। वहां 'काबा और काशी' 'वेद और कतेब'

'राम और रहीम' 'मन्दिर और मसीद' तथा हिन्दू और तुरुक' सब एक दिखाई देते हैं।

नम्रता सन्तों के प्रधान गुणों में से है। बिना दैन्य के भक्ति बनती भी नहीं, चाहे वह सगुण राम की हो अथवा निर्गुण राम की। कबीर भी अपने राम के सम्मुख दैन्य दिखलाते समय तुलसी के समान ही 'सब पतितन के नायक' बन जाते हैं उन्हें अपने समान कोई और पापी दीखता ही नहीं—

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न देखा कोय।
जो दिल खोजो आपना मुझ से बुरा न कोय॥'

प्रभु के सामने जाने में उन्हें बड़ा संकोच होता है। उन्हें अपनी हीनता का ध्यान जो है—

'यार बुलावै भाव सों, मो पै गया न जाय।
धन मैला पिउ ऊजला लाग न सक्कों पाय॥'

उन्हें अपने इष्ट-देव पर पूर्ण विश्वास है। वही तो सदा उन की ख़बर रखता है। उसी के सहारे वे माया को ठुकरा सके हैं—

'साधू गांठ न बांधई उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़े जब मांगै तब देय॥'

वे 'हरि' भक्त की केवल इस संसार की आवश्यकताओं ही की पूर्ति की चिन्ता नहीं बल्कि पारलौकिक आवश्यकताओं का भी पूर्ण प्रबन्ध करते हैं। कबीर का विश्वास भगवान् में इतना दृढ़ था कि मोक्ष पाने के लिये वे अन्य किसी को रिश्वत देने की आवश्यकता नहीं समझते थे। इसीलिए उन्होंने 'काश्यां मरणान्मुक्ति वाले सिद्धान्त को ठुकरा कर अपने मोक्ष के लिए काशी का अहसान उठाना पसन्द न किया था।

किन्तु कबीर का यह दैन्य केवल उसी परम पिता के दरबार

तक सीमित है। इस संसार के महाराजों अथवा ज्ञान-गर्वित व्यक्तियों को तो वे तुच्छ ही समझते हैं। यह भी साईं पर अत्यन्त विश्वास होने के कारण ही। वे जानते हैं कि—

'जा को राखे सांईयाँ मार न सक्के कोय।
बाल न बांका कर सके जो जग बैरी होय॥'

सांसारिक मामलों में जहां संतगण दीनता की पराकाष्ठा करते हैं, वहां वे यह मानने को कदापि प्रस्तुत नहीं कि प्रभु की भक्ति तथा साधना में भी वे किसी से कम हैं। कबीर ने अपनी वासनाओं की बलि चढ़ाकर, जीवन्मृत बन कर, भक्ति की यह अमूल्य मणि पाई थी। उसका उन्हें उचित गर्व था। कहा जा सकता है कि यह गर्व अहंकार की मात्रा तक बढ़ गया था। साधना के मार्ग में वे अपना समकक्ष किसी को न मानते थे। अपने ज्ञान के सामने सब का ज्ञान उन्हें थोथा दिखाई देता था। जिस शरीर-रूपी चादर को सुर-नर-मुनि सभी ने ओढ़-ओढ़ कर मैला कर दिया, उसी का कबीरदास जी ने इतने संयम और यत्न से प्रयोग किया कि अन्त में उसे ज्यों-की-त्यों बिना एक धब्बे के वापस रख दिया। उन्हें अपने कारण गर्व न भी हो, पर उस जगत्-पिता के कारण तो है ही जिस के पावन स्पर्श से वे स्वर्ण हो गए थे। उन्हें यह बोध हो गया था कि उनकी साधना सफल हो गई है, उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई है और वे अमर बना दिए गये हैं—

'मरते मरते जग मुआँ औरस मुआँ न कोय।
दास कबीर अस मुआँ बहुरि न मरना होय॥'

हम देखते हैं कि कबीर का हृदय जहां दृढ़ता में हिमालय से होड़ करता है, वहां कोमलता में नवनीत के समान है, जहां वे

सांसारिक मामलों में अपने समान कोई बुरा नहीं पाते, वहां साधना में अपने आगे किसी को नहीं देखना चाहते। महान् व्यक्तियों का स्वभाव ऐसा होता ही है—

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥'

——:o:——

कबीर के राम

कबीर रामानन्द स्वामी के शिष्य थे । उन्होंने उन्हीं से राम-मंत्र ग्रहण किया था । स्वामी जी दुष्ट-दलन दाशरथि साकार राम की भक्ति का प्रचार करते थे । कबीर की रचनाओं में भी अवतार-वाद का समर्थन कहीं कहीं मिलता है । ज्ञात होता है कि आरम्भ में महात्मा कबीर का भी अवतार-वाद पर विश्वास था, और उन के राम भी वही स्वामी रामानन्द के सगुण राम थे । तुलसीदास आदि अवतारवादी महात्माओं के समान कबीर भी मानव-रूप धारण कर, लीला का विस्तार करने वाले भगवान् की प्रार्थना करते हैं—

'दर मां दे ठाढ़े दरबार ।
तुझ बिन सुरति करै को मेरी दरसन दीजै खोल किवार ।
तुम धन धनी उदार तियागी स्रवनन सुनियत सुजस तिहार ।
मांगो काहि रंक सब देखों तुम ही ते मेरो निस्तार ॥
जयदेव नामा विप्र सुदामा तिन पै किरपा भई अपार ।
कहै कबीर तुम समरथ दाता चार पदार्थ देत न वार ॥'

उनके भगवान् भी आरम्भ में वे ही दीन-बन्धु करुणा-सिन्धु थे । जिन्हों ने कौरव-पति से कहा था—

'राजन कौन तुम्हारे आवै ।
ऐसो भाव विदुर को देख्यो वह गरीब मोहि भावै ॥
हस्ती देख भरम ते भूला श्री भगवान न जाना ।
तुमरो दूध विदुर को पानी अमरत कर मैं माना ॥

खीर समान साग मैं पाया गुन गावत रैन बिहानी।
कबीर के ठाकुर आनन्द विनोदी जाति न काहू की मानी ॥'

कबीर के जीवन-वृत्त में हमने अनुमान किया था कि संभवत: कबीर को राम-प्रेम के कारण बाल्य-काल में बहुत कष्ट उठाने पड़े होंगे। ऐसी दशा में यह प्राकृतिक है कि उन्हें उन दुष्ट-दलन भगवान् ने पर्याप्त संबल प्रदान किया हो, जो भक्तों के दुःख दूर करने के लिए पाँव-पियादे ही भाग देते हैं तथा भक्त की लाज रखने के लिए खम्भ फाड़ कर प्रकट हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर भक्त को भगवान् का यही स्वरूप सहारा पहुँचाता है। निम्न-लिखित पद्य पढ़ने से ज्ञात होता है मानो बालक कबीर की आत्मा ही प्रह्लाद के मुख से बोल रही है—

नहिं छाड़ौं रे बाबा राम नाम।
मोहि और पठन सू कौन काम ॥ टेक ॥
प्रहलाद पधारे पढ़न साल।
संग सखा लीये बहुत बाल ॥
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल।
मेरी पाटी पै लिख दे श्री गोपाल ॥
तब हरनाकस को कह्यो जाय।
प्रहलाद बंधायौ वेग आय ॥
तू राम कहन की छाँड बानि।
बेगि छुड़ाऊं मेरो कह्यो मानि ॥
मोहि कहा डरावै बार बार।
जिनि जल थल गिरि कौ कियौ प्रहार ॥
बाँधि मारि, भावै देह जारि।
जे हू राम छाड़ौं तौ मेरे गुरुहिं गारि ॥

तब काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाई ।
तोहि राखन हारौ मोहि बताई ॥
खंभा तैं प्रगटौ गिलारि ।
हरनाकस मारयो नख विदारि ॥
महापुरुष देवाधि देव ।
नरसिंह प्रगट कियौ भगति भेव ॥
कहै कबीर कोइ लहै न पार ।
प्रहलाद उबारयो अनेक बार ॥'

जिसने प्रह्लाद की रक्षा की थी उसने कबीर के विश्वास को भी उन विषम परिस्थितियों में सुरक्षित रखा होगा ।

कबीर की रचना में भगवान् के 'हरि' 'गोविन्द' 'नारायण' 'शारंगपाणि आदि अवतार-वाद के समर्थक नाम प्रचुर रूप में आए हैं ।

किंतु, क्रमशः ज्ञान-वृद्धि के साथ कबीर को यह बोध हुआ कि यह अवतार-धारी राम तो भ्रम में डालने वाला है । उन्होंने देखा कि दाशरथि राम को लोगों ने बड़ा संकुचित बना दिया है । उसके दरबार में निम्न-जातियों के लोगों का प्रवेश नहीं तथा एक ही मिट्टी पानी के बने और एक ही प्रभु की संतान मुसलमानों की भी गुञ्जाइश नहीं । वह मन्दिर के संकुचित दायरे में प्रस्तर-प्रतिमा बन पुजारियों की पेट-पूजा का साधन बन गया है । अतः उनका अवतार-वाद पर से विश्वास कम होना आरम्भ हुआ । उनके राम स्वामी रामानन्द के राम से भिन्न हो गए । 'राम' शब्द निर्गुण निराकार ब्रह्म का प्रतीक बन गया । कबीर ने कहा—

'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना'
राम नाम कर मरम है आना ।'

उन्हें साकार राम तथ्य-हीन एवं माया तथा भ्रम से पूर्ण दिखाई देने लगा। उन्होंने कहा—

'संतो आवै जाय सो माया।'

जिस नृसिंहावतार का भावपूर्ण वर्णन ऊपर किया गया है उसी के विषय में कबीर ने कहा—

'वे कर्त्ता न बराह कहावैं,
धरणि धरै नहिं भारा।
ई सब काम साहब के नाहीं,
झूठ कहै संसारा।
खंभ फारि जो बाहर होई,
ताहि पतिज सब कोई।
हिरनाकुस नख उदर विदारै,
सो नहिं करता होई।,

'राम' के नाम से जो वस्तु अब कबीरदास जी ने वितरित करनी आरम्भ की वह रामानन्द के राम से बिलकुल मेल न खाती थी। 'राम' शब्द रावणारि का वाचक न होकर अब—

'निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है,
राम को नाम रंकार जानी।'

का बोधक हो गया। उन्होंने यह पुराना 'राम' शब्द छोड़ा तो नहीं, किन्तु उसकी निराकार परिभाषा करदी तथा साथ ही 'समरथ' 'कर्त्ता' 'निरच्छर' 'खसम' 'साहब' आदि अन्य निर्गुण मत-समर्थक नामों का भी प्रचार किया।

साकार राम से निराकार की ओर आने में कबीर का अद्वैत-वाद की ओर आकर्षित होना कार्य्य कर रहा था। इसके अतिरिक्त एक और कारण भी था। कबीरदास जी ऐसी भक्ति-पद्धति चलाना

चाहते थे, जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो और साथ ही शासक जाति के विरोध का विषय न बने। अपनी धार्मिक कट्टरता एवं राजनीतिक शक्ति के कारण मुसलमान हिंदू सिद्धान्तों को अंगीकार न कर सकते थे और अपनी विशालता एवं प्राचीन गौरव के कारण हिंदू मुहम्मद साहब को ईश्वर का पुत्र न मान सकते थे। अतः कबीर ने राम और रहीम दोनों को मन्दिर और मसजिद के झगड़ालू प्रांगणों के बाहर घसीट कर घट घट व्यापी निराकार ब्रह्म में स्थापित करने का प्रयत्न किया। कबीरदास जी का यह ईश्वर न तो केवल मुसलमानों पर ही रहम करने वाला तथा काफ़िर हिन्दुओं को दोज़ख की आग में भूनने वाला रहा और न केवल हिन्दुओं का ही उद्धार करने वाला एवं यवनों का संहार करने वाला रहा। उसकी करुणा-वृष्टि समान रूप से उभय-धर्मावलम्बियों पर हुई।

परन्तु कबीर अपने इस निराकार ब्रह्म का कोई निश्चित रूप निर्धारित न कर सके। यह उनका उद्देश्य भी न था। उनका उद्देश्य तो आडम्बर रहित एवं दोनों दीनों को समान रूप से मान्य ब्रह्म का निरूपण करना था। सर्ववाद, एकेश्वरवाद अथवा ब्रह्मवाद आदि की बारीकियों पर सम्भवतः उन्होंने कभी विचार नहीं किया और न यह उनकी उद्देश्य-सिद्धि के लिए अभीष्ट ही था। अतएव उनका निर्गुण ब्रह्म इन तीनों ही वादों की परिभाषा में आ सकता है, परन्तु वे अपने उद्देश्य में सफल हुए, अर्थात् वे एक ऐसे ब्रह्म का निरूपण कर सके जो दोनों धर्मवालों को सरलता से ग्राह्य होसके। यही कारण है कि कबीर अपने राम के विषय में कह सके—

'कहै कबीर एक राम जपहु रे,
हिन्दू तुरक न कोई।'

इसी कारण राम से भी अधिक राम नाम की महिमा हो गई। जब राम का रूप पूरी तरह समझ में न आवे तो साधारण भक्तों को नाम का ही अवलम्बन लेना उचित है। ऐसी दशा में ब्रह्म और जीव के बीच केवल नाम ही साक्षी-रूप रह गया। उसमें से रूप का पूर्ण बहिष्कार हो गया।

ज्ञात होता है कि कबीरदास जी को यह सगुण-निर्गुण का झगड़ा भी अधिक रुचिकर न हुआ। इसमें भी उन्हें संकुचितता और आडम्बर की बू आई, अतः उन्होंने कहा—

'सरगुन निरगुन ते परे,
तहां हमारा ध्यान।'

महात्मा कबीरदास जी ने किसी धर्म के शास्त्रों का नियमित रूप से अध्ययन नहीं किया था। उनका तात्त्विक ज्ञान केवल सुना-सुनाया और उथला था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें तब मिलता है जब हम कबीर द्वारा निरूपित ब्रह्म के स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं। कबीर के ईश्वर में जो अस्थिरता एवं विभिन्नता दिखलाई देती है उसके कारण स्पष्ट हैं। रामानन्द जी के शिष्यत्व के फलस्वरूप उन्होंने सगुण राम एवं अवतार-वाद का समर्थन किया। ज्यों ज्यों उनका सत्संग और ज्ञान बढ़ता गया उनकी आस्था इस स्थूल राम पर से कम होती गई और वे निराकार राम की ओर झुकते गए और उन्होंने निर्गुण ब्रह्म का निरूपण आरम्भ किया। परन्तु यहाँ उन्हें परिस्थितियों ने विवश किया। शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित वेदान्त के ब्रह्म-वाद के समर्थक होते हुए भी राम-रहीम को एक में ढालने के विचार से उन्होंने ब्रह्म-वाद को पैग़म्बरी एकेश्वर-वाद की ओर घसीटा। अन्त को वे शुद्ध एकेश्वर-वाद अथवा ब्रह्म-वाद पर भी स्थिर न

रह सके । निम्बार्काचार्य और सूफ़ीमत की माधुर्य-भक्ति का समर्थन करने के कारण उनके निर्गुण-ब्रह्म में गुणों का आरोप हो गया । किन्तु यदि कबीर की गौण अस्थिरता तथा आध्यात्मिह विकास की पहली श्रेणियों पर विचार न किया जाय और उनके प्रौढ़ एवं प्रधान सिद्धान्तों पर ही ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि उन्होंने शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म का ही निरूपण किया है।

माया, जीव और मोक्ष

कबीर सारतः हिन्दू थे। सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन एव माया, जीव और मोक्ष के सम्बन्ध का निरूपण उन्हों ने हिन्दू-धर्म-शास्त्रों के अनुकूल ही किया है। सूफ़ीमत अथवा इस्लाम में तो माया के लिए स्थान ही नहीं है। हिंदू धर्म-सिद्धांत के अनुसार ही मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक जीव के लिए माया के आवरण का नाश करना अत्यंत आवश्यक है। मायावाद हिंदू-धर्म की विशेषता है।

संसारोत्पत्ति का वर्णन करते हुए कबीर दास जी ने बतलाया है कि इस जगत् की उत्पत्ति ही माया से हुई है। सृष्टि के आरम्भ में एक निर्विकार समर्थ आत्मा थी। उसने संसारोत्पत्ति की इच्छा की। संसारोत्पत्ति की इच्छा से उसने सात श्रुतियों की रचना की। पुनः इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ। इच्छा के पश्चात् पांच ब्रह्म हुए। इन ब्रह्माओं को सृष्टि की रचना और रक्षा का कार्य दिया गया, किन्तु वे सफलता न प्राप्त कर सके! तब उस समर्थ आत्मा ने अक्षर नामक ब्रह्म पर कृपा की। जब अक्षर निद्रा से उठा तो उसने जल पर एक अण्डा तैरता हुआ देखा। उसकी दृष्टि के प्रभाव से वह अण्डा फूट गया और उससे 'निरंजन' निकला। यह निरंजन भी अकेले सृष्टि रचना में सफल न हो सका, अतः इसने एक स्त्री पाने की इच्छा प्रकट की। परिणाम स्वरूप उस समर्थ आत्मा ने एक स्त्री की सृष्टि की। उस स्त्री से निरंजन ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक तीन

पुत्र उत्पन्न किए । इसके पश्चात् निरंजन अदृश्य हो गया। इस स्त्री का ही नाम माया है। वह अपने पुत्र ब्रह्मा पर ही आसक्त हो गई। ब्रह्मा ने उसे पूछा—

'के तोर पुरुष, का कर तू नारी'

इसका उत्तर कबीर दास जी ने माया से इस प्रकार दिलाया है—

'तुम हम, हम तुम और न कोई
तू मोर पुरुष, हमै तोर जोई।'

माया का कबीर ने घोर विरोध किया। 'हरि बिच अन्तरा' डालने वाली माया के प्रति घृणा उत्पन्न कराने के लिए ही महात्मा कबीर ने उसकी उत्पत्ति के साथ यह घृणित प्रश्नोत्तर जोड़ दिया है।

इस प्रकार उत्पन्न होकर और आरम्भ में अपने पुत्र पर ही आसक्त होकर इस विषम माया ने संसार में अपना प्रपंच फैलाना आरम्भ कर दिया। उसका प्रभाव बड़ा व्यापक और भयंकर हुआ। उसके प्रभाव से—

सुर नर मुनि जोगी जती
कोई बचन न पाया।
नौन तेल ढूँढै नहीं
कच्चै धरि खाया ॥'

संसारियों की तो चर्चा ही क्या, उसके प्रभाव से देवलोक भी न बच सका—

'एकै नारी जाल पसारा,
जग में भया अन्देशा।
खोजत काहू पार न पाया,
ब्रह्मा विष्णु महेशा ॥'

इसके प्रभाव से योगी, यती, पण्डित, मौलवी, काज़ी आदि कोई भी न बच सका । सभी माया के मोहन-मन्त्र से मुग्ध हो कर मतवाले बन रहे हैं—

'सब ही मदमाते कोई न जाग ।
संगहि चोर घर मूसन लाग ॥
योगी मदमाते योग ध्यान ।
पण्डित मदमाते पढ़ि पुरान ॥
तपसी मदमाते तप के भेव ।
सन्यासी मदमाते करि हमेव ॥
मौलान मदमाते पढ़ि मोसाफ ।
काज़ी मदमाते कै निसाफ ॥
संसार मत्यौ माया के धार ।
राजा मद माते करि हंकार ॥,

इस माया के दो प्रतीक हैं, कनक और कामिनी । इन्हीं दो रूपों से माया संसार में अपना दुःखद प्रपंच फैलाती है । यही कामिनी और कनक आत्मा का परमात्मा से संयोग नहीं होने देते, उनके बीच दुर्गम घाटी का काम करते हैं—

'चलो चलो सब कोई कहै, पहुंचा बिरला कोय ।
एक कनक एक कामिनी, दुरगम घाटी दोय ॥

यही कारण है कि कबीर ने माया के साथ-साथ कामिनी और कांचन को भी जी भरकर कोसा है । इन्हीं दोनों के पीछे पड़ने पर जीव माया की विषम ज्वाला से दग्ध होता है—

'माया के झक जग जरै, कनक कामिनी लागि ।
कह कबीर कस बाचि है, रूई लपेटी आगि ॥

और इन दोनों में भी कामिनी को तो वे बहुत ही बड़ा विकार कहते हैं। वे कहते हैं—

'नारि नसावैं तीन गुण जो नर पासै होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठ सकै नहिं कोय॥'

और नारी-संग को तो वे बहुत ही भयंकर बतलाते हैं—

'नारी की झांई परै अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिन की कौन गति नित नारी को संग॥'

कबीर को इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है कि जो नारी-जाति मातृत्व का गौरव पूर्ण पद सुशोभित करती है, वही प्रमदा-रूप धारण कर मनुष्य को माया के जाल में फंसाने में भी सहायक होती है। इस सत्य का वर्णन कबीरदास जी अपने अनूठे ढंग से करते हैं—

'नागिन ने पैदा किया, नागिन धरि खाया।'

इस कनक और कामिनी के चिन्तन से ही मनुष्य की विवेक-बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बिना विवेक के मनुष्य सद्मार्ग से पतित हो जाता है—

'बिन विवेक भटकत फिरे।'

इस प्रकार सद्मार्ग से भटक कर जीव काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का शिकार बनता है। उसके हृदय में आशा, तृष्णा, कपट, परनिन्दा आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। यह सब माया का परिवार है। इस प्रकार पूर्ण रूप से माया-पंक में फंस कर जीव भक्ति और ज्ञान के मार्ग से विमुख हो कर, विनाशोन्मुख होता है।

कबीर दास जी का मत है कि जिस प्रकार जल से भरे हुए अनेक घटों में एक ही सूर्य के भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब दिखाई

देते हैं, उसी प्रकार एक ही पर-ब्रह्म परमात्मा की ज्योति का प्रकाश प्रत्येक जीवधारी में है। प्रत्येक आत्मा उसी परमात्मा का अंश है। कबीर साहब ने लिखा है—

'सब घट व्यापक हो रहा सोई आप अलेख।'

अब प्रश्न यह है कि जब प्रत्येक जीव में उसी परम-ज्योति का प्रकाश है, प्रत्येक आत्मा उसी परमात्मा का अंश है, तब क्या कारण है कि इस ईश्वर-अंश जीव को परमात्मा के वियोग में संसार के भ्रम जाल में फंस कर, भटकना पड़ता है। घर के भीतर ही यह आँख मिचौनी कैसी ? जब यह सत्य है कि—

'जा कारण जग ढूँढिया सो तो घट ही मांहि।'

तब क्या कारण है कि उससे साक्षात्कार नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर कबीर साहब यह देते हैं कि—

'परदा दीया भरम का तातैं सूझै नाहिं।'

यह 'भरम'—यह 'माया' ही जीव और हरि के अनन्त-संयोग में बाधा डालती है। यदि इस माया के आवरण को फाड़ दिया जाय तो आत्मा और परमात्मा में कोई भेद ही न रह जाय।

किन्तु माया का यह प्रपंच नष्ट कैसे हो ? आवागमन के बखेड़े से छुटकारा पाकर जीवात्मा का परमात्मा से अनन्त संयोग कैसे सिद्ध हो ? दूसरे शब्दों में, जीव को मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो ?

महात्मा कबीर दास जी का मत है कि मृत्यु के पश्चात् मोक्ष पाने का प्रयत्न श्रेयस्कर नहीं है। उचित तो यह है कि इसी जीवन में मुक्त होने का प्रयत्न किया जाय। मनुष्य को

इसी जीवन में अपनी आत्मा को सांसारिक बंधनों से छुटकारा दिलाना चाहिए। कबीर के शब्दों में उसे 'मरजीवा' अर्थात् 'जीवन्मृत' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। अतः उन्होंने इसी जीवन में इन्द्रियों को पूर्णतः अपने वश में करके माया के जंजाल से निकलने की रीति बतलाई है।

माया का प्रभाव मन पर पड़ता है। मन ही माया के अस्त्र काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि का लक्ष्य बनता है—

'मन पांचों के बस परा, मन के बस नहिं पांच'

और इसी कारण जीव व्यथित रहता है—

जित देखूँ तित दौ लगी, जित देखूँ तित आंच।

मन की प्रकृति ही विधाता ने ऐसी बनाई है कि उसे ज़रा सी स्वतन्त्रता मिली नहीं कि वह माया पर आसक्त हुआ—

'मनुआं तो पंछी भया उड़ि के चला अकास।
ऊपर ही ते गिरि पड़ा या माया के पास॥'

अतः यह आवश्यक है कि मन पर कठोर अनुशासन रखा जाय। परन्तु यह कार्य बड़ा कठिन है सरल नहीं है, क्योंकि—

'सन्तो यह मन है बड़ा ज़ालिम।
जाको मन सों काम परयो हैं तित ही ह्वै है मालुम।'

इस दुस्तर कार्य—साधन का कबीर दास जी यह उपाय बतलाते हैं कि साधक सर्व प्रथम तो सद्गुरु की शरण में जाय। सद्गुरु और उनके गुरु मंत्र का प्रभाव ही ऐसा है कि जिस पर गुरुदेव की कृपा होती है उस पर माया-नागिन का प्रभाव नहीं पड़ता। गुरु-मंत्र से वह नागिन भस्म हो जाती है—

'नागिन डरपै संत पै उहवां नहिं आवै।
कह कबीर गुरु मंत्र से आपै जरि जावै॥'

तत्पश्चात् मन रूपी कुंजर को भक्ति रूपी जंज़ीर से कस कर जकड़ दे—

'मन कुंजर महमंत था, फिरता गहर गंभीर।
दुहरी तिहरी चौहरी पड़ गई प्रेम ज़ंज़ीर॥'

इस प्रकार शासित हो जाने के पश्चात् मन में बड़ा पावन परिवर्त्तन होता है—

'पहले यह मन काग था करता जीवन घात।
अब तो मन हंसा भया चुगि चुगि मोती खात॥'

इस प्रकार यह मन काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि विकारों से हट कर शील, क्षमा, दया, संतोष, धैर्य, उदारता, दीनता, सत्य आदि संत-सुलभ लक्षणों से पूर्ण हो जायगा और ज्ञान-चक्षु खुल जायेंगे। ज्ञान-चक्षु खुलते ही मनुष्य माया के जाल से मुक्त हो जायगा। कबीर ने भक्ति को ज्ञान-लाभ करने की सुलभ सीढ़ी माना है, क्योंकि वे ज्ञान-मार्गी थे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा सुलभ और सरल बतलाया और माया एवं भक्ति दोनों को नारी बतला कर यह दलील दी है कि 'नारि न मोह नारि के रूपा'। अतः भक्तों पर माया का प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु कबीरदास जी यद्यपि भक्ति की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, परन्तु वे माया रूपी टट्टी को ज्ञान की आँधी से उड़ना ही बतलाते हैं। कबीरदास जी लिखते हैं—

'संतो भाई आई ज्ञान की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बांधी॥टेक॥
हिति चत की द्वै थूनी गिरानी, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि, कुबुधि का भांडा फूटा।

आंधी पीछे जो जल बूठा प्रेम हरी जन भींनां।
कहै कबीर भांन के प्रगटे, उदित भया तब षीनां' ॥

ज्ञान की आँधी से भ्रम की टट्टी टूट गई, माया का पर्दा फट गया, तृष्णा का छप्पर गिर पड़ा और कुबुद्धि का भण्डा फूट गया।

कबीर दास जी का मत है कि इस प्रकार ज्ञान-चक्षु खुल जाने पर गुरुदेव की कृपा से, मनुष्य माया के जाल से मुक्त हो जाता है—

'माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि मांहि परंत ।
कोई एक गुरु ज्ञान ते उबरे साधू संत ॥'

इस प्रकार गुरु की कृपा से भक्ति द्वारा मन का मार्जन होता है तथा ज्ञान लाभ करने के पश्चात् मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। सांसारिक विकारों की ओर से इस जीवन में ही मृत होकर जीव देश काल से परे होकर सिद्धावस्था की प्राप्ति करता है और अन्त को उसका ब्रह्म से साक्षात्कार होता है—

'मैं मर जीवा समुद्र का डुबकी मारी एक ।
मूठी लाया ज्ञान की जामें वस्तु अनेक ॥
डुबकी मारी समुद्र में निकसा जाय अकास ।
गगन मंडल में घर किया हीरा पाया दास ॥'

भक्ति-पद्धति

स्वामी रामानन्द के शिष्यत्व अथवा अन्य किसी कारण से कबीर का कभी अवतारवाद पर विश्वास भले ही रहा हो, पर यह निश्चित है कि मूर्ति-पूजा की उपयोगिता उन्होंने कभी स्वीकार नहीं की । भक्ति की महिमा का बहुत अधिक वर्णन करते हुए भी वे मूर्ति-पूजा के सदा कट्टर विरोधी रहे । उसे तो वे स्वार्थी पुजारियों की पेट पूजा का साधन बतलाते हैं—

लाडू लावर लापसी पूजा चढ़े अपार ।
पूजि पुजारी ले चलादे मूरत मुख छार ॥'

इस पत्थर-पूजन को तो वे सदा पागलपन ही समझते रहे, भगवान् से मिलने का साधन नहीं—

'पत्थर पूजें हरि मिले, तौ मैं पूजूं पहार ।'

कबीर दास जी मस्जिद में नमाज़ पढ़ना भी लाभ दायक नहीं समझते । वे कहते हैं कि इस प्रकार मस्जिद में बाँग देने से क्या लाभ ? क्या भगवान् बहरे हैं, जो गला फाड़-फाड़ कर उन्हें अपनी भक्ति की सूचना देनी आवश्यक है । वे लिखते हैं—

'कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लाई चुनाय ।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय ॥'

वास्तव में कबीर दास जी ऐसी भक्ति-पद्धति के विरोधी थे, जिसमें प्रदर्शन का थोड़ा सा भी अंश हो। वे व्यक्तिगत साधना के समर्थक थे । प्रधानतः ज्ञान मार्गी होने के कारण वे अकेले में बैठकर हृदयस्थ परमात्मा का दर्शन करने का उपदेश देते हैं ।

कबीर दास जी कहते हैं कि निश्चय ही भक्ति, मुक्ति का साधन है—

'कह कबीर संसा नहीं भगत मुकुति गति पाई रे।'

परन्तु यह भक्ति अंध-भक्ति न होनी चाहिए, वरन् ज्ञान युक्त होनी चाहिए—

'ज्ञान संपूरन ना भया हिरदा नाहिं जुड़ाय।
देखा देखी भक्ति का रंग नहीं ठहराय ॥'

केवल भक्त का वेष धारण कर लेने से ही भक्ति नहीं होती, और न इससे वांछित परिणाम ही निकलता है। वेष और भक्ति में तो पृथ्वी और आकाश के समान अन्तर है—

'भगति भेस बहु अन्तरा, जैसे धरति अकास।'

इस भक्ति-मार्ग में सम्पूर्ण आत्मत्याग की आवश्यकता है। कच्चे जी के व्यक्तियों को इस ओर न आना चाहिए—

'सीस उतारै भुईं धरै तापर राखे पांव।
दास कबीरा यों कहै ऐसा होय तो आव ॥'

साथ ही यह भक्ति नितान्त निष्काम होनी चाहिए। कारण यह है—

'जब लग भक्ति सकाम है तब लग निस्फल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिलै निःकामी निज देव ॥'

भक्त तो केवल भगवान् की भक्ति करते रहने का अधिकार चाहता है, उसे स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती। कबीरदास जी भगवान् के सामीप्य को ही भक्ति का अन्तिम लक्ष्य नहीं मानते, वे सायुज्य को प्राप्त करने में ही अपनी ज्ञान-प्रधान भक्ति की सफलता बतलाते हैं। अतः उन की दृष्टि में तो स्वर्ग का मूल्य और भी नगण्य है। वैकुण्ठ प्राप्त करने की आशा

जब तक मन में रहेगी, तब तक कभी सच्ची भक्ति हो ही नहीं सकती। वैकुण्ठ के विषय में कबीर दास जी लिखते हैं—

'चलन चलन सब कोऊ कहत है,
ना जानैं बैकुंठ कहां है।
जो जन एक प्रमिति नहिं जानै,
बातन हरि वैकुण्ठ बखानै॥
जब लग है वैकुण्ठ की आसा,
तब लग नहिं हरि चरन निवासा॥'

उन के मत से बिहिश्त अथवा स्वर्ग माया का प्रपंच ही है। इसके पाने के इच्छुक इसकी कामना इसीलिए करते हैं कि इस में इन्द्रियों की वासनाओं की पूर्ति प्रचुर रूप में होगी। अतः सच्चे भक्त का लक्ष्य बिहिश्त अथवा स्वर्ग नहीं वरन् भक्ति-रस द्वारा अपनी वासनाओं का मार्जन एवं परमात्मा से अपना एकीकरण होना चाहिए।

भक्त-प्रवर गोस्वामी जी ने भक्तिरस में सराबोर हो कर अपने इष्ट देव को सम्बोधन कर के लिखा है—

'मोहि तोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरण शरण पावै॥'

कबीर दास जी भी भक्ति के आवेग में अपने राम से अपने अनेक नाते स्थापित कर लेते हैं। कहीं तो वे कहते हैं—

'अब मोहि लै चल 'नणद के बीर' अपने देसा।
इन पांचिन मिलि लूटी हूं, कुसंग आहि भदेसा॥'

इस प्रकार भगवान् को 'नणद के वीर' बताते हैं; तो कहीं कहते हैं—

'अवगुण मेरे बाप जी, बकस गरीब नेवाज़।
जो मैं पूत कपूत हूं, तऊ पिता को लाज॥'

पिता तो पुत्र के अपराध क्षमा कर उसे अपनाएगा ही, परन्तु फिर कबीर को ध्यान आता है कि पिता तो एक बार निष्ठुर हो भी जाय परन्तु माता नहीं हो सकती; अतः वे भगवान् को माता बनाकर उनसे कृपा-भिक्षा माँगते हैं—

'हरि जननी मैं बालक तेरा,
काहे न अवगुन बकसहु मेरा ॥ टेक ॥
सुत अपराध करै दिन केते,
जननी के चित रहैं न तेते ।
कर गहि केस करै जो घाता,
तऊ न हेत उतारै माता ।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी,
बालक दुखी, दुखी महतारी ॥'

इस प्रकार स्वयं सेवक, पत्नी, पुत्र, आदि बन कर तथा भगवान् को सेव्य, पति, पिता, माता आदि बना कर अनेक नाते निभाने की प्रार्थना करते हैं ।

जाति, वर्ण एवं कुल के कारण तो कबीर वैसे भी मनुष्यों में भेद-भाव स्वीकार नहीं करते, परन्तु उपासना के क्षेत्र में तो सभी प्राणियों की समानता का प्रबल समर्थन करते हैं—

'भक्ति गेंद चौगान की भावै कोइ लै जाय ।
कह कबीर कछु भेद नहिं कहा रंक कहा राय ॥'

धर्म के अन्तर्गत अन्य कर्म-काण्ड तो माया में फँसाने वाले हैं, अतः सब कुछ छोड़-छाड़ कर भक्ति का आश्रय लेना उचित है—

'और कर्म सब कर्म हैं भगति कर्म निष्कर्म ।
कहै कबीर पुकारि कै भगति करो तजि धर्म ॥'

भक्ति के स्रोत में बहकर कबीर अपने निर्गुण राम में गुणों का आरोप कर देते हैं, तथा पाखण्ड-विरोधी होते हुए भी वे कह बैठते हैं—

'सपनेहू बर्राइ के लेई राम का नाम।
ताके पग की पैतरी मेरे तन का चाम॥'

कबीर के ब्रह्म-निरूपण की तरह उनके भक्ति-मार्ग पर भी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। कोई भी भक्ति-पद्धति जिस में प्रदर्शन का थोड़ा-सा भी अंश होता हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के अनुकूल न हो सकती थी। ऐसी दशा में यही संभव था कि व्यक्तिगत साधना पर ज़ोर देकर निराकार ब्रह्म के चिन्तन का उपदेश दिया जाता। अपने आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा पर पहुँचने पर कबीर साहब स्वयं तो भक्ति की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व देने लगे थे, परन्तु जन साधारण की दृष्टि से वे भक्ति का नितान्त बहिष्कार भी न कर सकते थे, क्योंकि युद्धों और अशान्ति से पूर्ण उस काल में कोरा शुष्क ज्ञान-मार्ग उपयोगी न होता। अतः, समाज को उनकी माधुर्य-भावना-युक्त निर्गुण भक्ति ही शान्ति प्रदान कर सकती, तथा हिन्दू और मुसलमानों के हृदय को निकट लाने में समर्थ हो सकती थी।

———

गुरु और जिज्ञासु

अनजान देश में राह बतलाने वाले की आवश्यकता पड़ती है जब इस छोटे से संसार के छोटे-छोटे स्थान ढूंढने के लिए भी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है, तब उस अगम अगोचर देश के वासी परब्रह्म के महल की राह पाने के लिए गुरु-रूपी पथ-प्रदर्शक की कितनी अधिक आवश्यकता होगी, इस का अनुमान कबीर दास जी ने पूर्ण रूप से कर लिया था। इस मार्ग-प्रदर्शक की खोज ने उन्हें सारी रात बेचैन रखकर सूर्योदय के कई घण्टे पहले मणि-कर्णिका-घाट की सीढ़ियों पर ले जाकर लिटा दिया था। दिव्य लोक का मार्ग इतना संकीर्ण एवं भूल-भुलैयों से पूर्ण है कि यदि सद्‌गुरु ने राह न बतलाई तो मार्गच्युत हो जाना अवश्यंभावी है। कबीर दास जी ने कहा है—

'ताकी पूरी क्यों परै, गुरु ने लखाई बाट।
ता को बेड़ा बूड़ि है, फिर फिर अवघट घाट॥'

इस भवसागर को पार करने के लिए गुरु-रूपी चतुर खिवैए की बहुत अधिक आवश्यकता है।

कबीर दास जी का कथन है कि वे भी पत्थर पूजने की ओर चल दिए थे, वे संसार की मूर्खता-पूर्ण रूढ़ियों में फंसे जा रहे थे, केवल गुरुदेव की कृपा से ही वे उस पाखंड से बच कर सच्चे ज्ञान को पा सके—

'हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ।
सतगुर की किरपा भई उतरा मन से बोझ॥'

पीछे लगा जाइ था लोक वेद के साथ।
आगे थे सत गुरु मिला दीवा दीन्हा हाथ ॥'

यदि गुरुदेव शिष्य को ज्ञान-रूपी दीपक देकर सच्चे मार्ग पर न चलाते तो वह अज्ञान के कारण पशु के समान विवेक हीन ही रहता।

जिस समय मनुष्य माया-जाल में फंस कर अपनी आत्मा को पाप की छाप से कलुषित कर लेता है, उस समय उसे केवल सद्गुरु ही निर्मल कर सकते हैं—

'गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबन सिरजन हार।
सुरति सिला पर धोइये, निकसै जोति अपार'

महात्मा कबीर ने अपने धर्म-सिद्धान्त वेदान्त, सूफ़ीमत तथा हठयोग से अधिक लिए हैं। इन सब मतों में गुरु का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। भारतीय भक्त तो तुलसीदास जी के शब्दों में सदा ही गुरु के पद-नख की रज से मन-रूपी मुकुट को स्वच्छ करने का उपदेश देते रहे हैं।

सूफ़ीमत में गुरु की आवश्यकता बहुत अधिक कही गई है। उनके सिद्धान्त के अनुसार गुरुदेव की कृपा के बिना न तो आत्मा और परमात्मा का मिलन हो सकता है और न आत्मा के मिलन-पथ की ओर अग्रसर होने की तीव्र आकांक्षा ही हो सकती है।

यह वियोगिनी आत्मा संसार के झूठे झगड़ों में फँस कर ऐसी बेसुध हो जाती है कि उसे अपने प्रियतम परमात्मा का स्मरण भी नहीं रहता। गुरुदेव ही उस पर कृपा करके उसे परमात्मा के वियोग का स्मरण दिलाते हैं, जिससे वह व्यर्थ के साँसारिक झगड़ों को भूल, विरह-विकल होकर अपने प्रियतम

के मिलन-पथ पर चल देती है। कबीरदास जी लिखते हैं कि गुरुदेव ने ही मेरे हृदय में भगवान् का वियोग जाग्रत किया है—

'सतगुरु हो महाराज, मोपै सांई रंग डारा,
बिरह की चोट लगी मेरे मन में, बेध गया तन सारा।
औषध मूल कछू नहिं लागै, क्या करे वेद बिचारा ॥'

सद्गुरु के द्वारा छोड़े हुए विरह-बाण ने ऐसा विचित्र प्रभाव डाला कि संसार की ओर से समस्त वृत्तियां फिर गईं—

'गूंगा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊं थै पंगुल भया, सतगुरु मारया बान॥
हंसै न बोलै उनमनी, चंचल मेल्हो मारि।
कहै कबीर भीतर भिद्या, सतगुरु के हथियारि ॥'

इस विषम वियोग के जाग्रत हो जाने के पश्चात् भी बिना मुर्शिद (गुरु) की कृपा के मुरीद (शिष्य) प्रियतम के प्रेम-पथ पर निष्कण्टक यात्रा नहीं कर सकता। प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी ने पद्मावत की अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'गुरु सूवा जो पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥'

महात्मा कबीर भी इस प्रेम-पथ पर गुरुदेव की बताई हुई विधि के अनुसार चल कर ही सफलता प्राप्त करने की आशा रखते हैं। वे लिखते हैं—

'पांस्या पकड़ा प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुरु दाव बताइया, खेलैं दास कबीर॥

हृदय में इस अलौकिक प्रेम का संचार गुरुदेव ही करते हैं, जिसके कारण यह मानव जीवन धन्य हो जाता है—

'सतगुरु हमसूं रीझि कर कहा एक प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग॥

हठ-योग के अनुसार भी साधक को गुरु की सहायता के बिना सिद्धि कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। यद्यपि इस घट के भीतर ही ब्रह्म का निवास है किन्तु बिना गुरु की कृपा के उससे साक्षात्कार नहीं हो सकता—

'अष्ट कंवल दल भीतरां, तहँ श्री रंग केलि कराहि रे।
सतगुर मिले तौ पाइए, नहीं तौ जन्म अकारथ जाइ रे॥

जब तक गुरुदेव प्रसन्न होकर साधक को अपनी देख-रेख में साधना न करावें, तब तक उसे व्यर्थ प्रयास करने की मूर्खता न करनी चाहिए—

'गुरू गंम ते पाइए, झंषि मरै जिन कोयरे।'

जब गुरुदेव अनुग्रह करके अपनाते हैं तब फिर ब्रह्म-ज्ञान मिलने में देर नहीं लगती, हृदय-कमल खिल जाता है, सम्पूर्ण सिद्धियां अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं तथा जरा-मरण का भय भाग जाता है—

'अब मैं पाइयो रे पाइयो रे ब्रह्म गियान।
सहज समाधै सुख में रहिवौ कोटि कलप विश्राम॥
गुरु कृपाल कृपा जब कीन्हीं हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिसि सूझ्या परम ज्योति परगासा॥'

अतः, यह आवश्यक है कि सद्गुरु का आश्रय शीघ्र लिया जाय। परन्तु सद्गुरु की खोज सरल नहीं। कबीरदास जी को भी अपने गुरु की खोज में दर-दर घूमना पड़ता था। इसी के लिए उन्हों ने भूसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि स्थानों की खाक छानी थी, शेख तकी, अकर्दी, सकर्दी आदि के उपदेशों

र विचार किया था। पर उनकी कसौटी पर एक भी रा न उतरा। बड़ी दौड़ धूप के पश्चात् अन्त में उन्हें अपनी च्छा के अनुकूल गुरु स्वामी रामानन्दजी मिले थे।

इसीलिए वे कहते हैं कि यदि गुरु की खोज में पूरी साव-ानी से काम न लिया गया, यदि दुर्भाग्य से गुरु की खोज में ोखा हुआ और किसी कच्चे सिद्ध से पाला पड़ गया, तो िनाश निश्चित है। जब गुरु महाराज स्वयं ही खोखले होंगे ो शिष्य को क्या ज्ञान देंगे ?-

'जानैता बूझा नहीं, बूझ किया नहीं गौन।
अंधे को अन्धा मिला, राह बतावै कौन॥'

वे मूर्ख शिष्य और अनाड़ी गुरु दोनों निश्चय ही बीच धार ें डूबेंगे—

'दोऊ बूड़े धार में चढ़ि पाथर की नाव।'

इसलिए सद्गुरु की खोज बड़ी सावधानी से करनी चाहिए। सद्गुरु की पहचान के लिए कबीरदास जी ने उसके कुछ लक्षण भी बतला दिए हैं —

'साधो सो सतगुरु मोहि भावै।
सत्तनाम का भर भर प्याला आप पियै मोहि प्यावै॥
मेले जाय न महंत कहावै पूजा भेंट न लावै।
परदा दूर करे आँखिन का निज दरसन दिखलावै॥
जाके दरसन साहब दरसैं अनहद शब्द सुनावै।
माया के सुख दुख कर जाने संग न सुपन चलावै॥
निसि दिन सत्संगति में राचै, शब्द में सुरत समावै।
कह कबीर ताको भय नाहीं, निरभय पद परसावै॥'

ऐसे सद्गुरु को एक बार पा जाने पर फिर उस का पल्ला

नहीं छोड़ना चाहिए। यदि गुरुदेव अप्रिय व्यवहार भी करें तो शान्ति के साथ सह लेना चाहिए, क्योंकि वह देखने में कटु व्यवहार वास्तव में शिष्य की भलाई के लिये ही होता है—

'गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ हैं, गढ़ गढ़ काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दे बाहर वाहै चोट ॥'

और यदि गुरु अपनी किसी चूक से रुष्ट हो जाय तो उन्हें अपनी दीनता आदि से अपराध क्षमा करवा कर मना लेना चाहिये। उसकी प्रसन्नता ही सब सिद्धियों का मूल है—

'जो गुरु रूठे होयँ तौ तुरत मनाइए।
हुइए दीन अधीन चूक बकसाइए ॥
जो गुरु होय दयाल दया दिल हेरि हैं।
कोटि भरम कटि जाँय पलक छिन फेरि है ॥'

गुरुदेव के उपकार और उनकी गरिमा इतनी अधिक है कि जब गुरु और उनके द्वारा बतलाये हुए गोविन्द दोनों सामने खड़े होते हैं तो कबीरदास जी इस संशय में पड़ जाते हैं कि पहले किसके चरणों में मस्तक झुकाया जाय ?—

'गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाँय।'

किन्तु दूसरे ही क्षण कबीर बेधड़क गोविन्द की उपेक्षा कर गुरुदेव की वन्दना करते हैं। गुरुदेव की कृपा से ही तो 'हरि' मिले हैं; गुरु की कृपा बनी रही तो गोविन्द फिर मिल जायेंगे—

'धन्य गुरु जी आपने, जिन गोविन्द दिया बताय ॥'

कबीर दास जी जानते हैं कि—

'हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहि ठौर ॥

महात्मा कबीर के ज्ञान विकास के साथ उनकी गुरु की भावना में भी परिवर्तन हुआ है। आरम्भ में तो वे अपने गुरु

को मानव-लोक के प्राणी के रूप में ही चित्रित करते हैं, किन्तु क्रमशः उन के राम की तरह उनके गुरु भी निर्गुण निराकार होकर अन्त को ब्रह्म के-राम के—पर्यायवाची हो जाते हैं। निम्न-लिखित पद से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कबीर दास जी स्वामी रामानन्द का ही यशोगान कर रहे हैं—

'राम ! मोहि सतगुरु मिले अनेक—
—कलानिधि, परम तत्त्व सुखदाई।
काम अगिनि तन जरत रही है,
हरि रस छिरकि बुझाई॥
दरस परस तैं दुरमति नासी,
दीन रटनि ल्यो आई।
पाषंड भरम कपाट खोलि कैं,
अनभै कथा सुनाई॥

परन्तु फिर कबीर के गुरु एक सिद्ध योगी के रूप में दिखाई देते हैं—

'भाई कोई सतगुर संत कहावे, नैनन अलख लखावै।
धरती त्याग अकासहु त्यागै अधर मड़ैया छावे।
सुन्न सिखर के सार सिला पर आसन अचल जमावै॥
भीतर रहा सो बाहर देखै दूजा दृष्टि न आवै।
कहत कबीर बसा है हंसा आवागमन मिटावै॥'

इन 'अधर मड़ैया छाने वाले' गुरुवर और 'पाषंड-भरम कपाट खोलने वाले' गुरु में अन्तर स्पष्ट है। किन्तु इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि ये दोनों पद दो भिन्न व्यक्तियों के परिचायक हैं। ये तो कबीर के ज्ञान के विकास के अनुसार उनकी गुरु-भावना के दो चित्र हैं।

पूर्ण तत्वज्ञान लाभ करने के पश्चात् कबीर दास जी गुरु और शिष्य के साक्षात्कार को भी अनावश्यक बतलाते हैं—

'कबीर गुरु बसै बनारसी सिष समंदर तीर।
बिसरया नहीं बीसरै जे गुण होय सरीर॥'

कबीर की गुरु-भावना का चरम विकास उस समय दिखाई देता है, जब उनके गुरु में और परब्रह्म राम में कोई अन्तर नहीं रह जाता—

'राम बिन तन की तपन न जाई।
जल में अगिनि उठी अधिकाई॥
तुम जलनिधि मैं जल कर मीनां।
जल मैं रहौं जलहि बिन षींनां॥
तुम सतगुरु मैं नौतम चेला।
कहै कबीर राम रमूं अकेला॥

जहाँ कबीर जी ने गुरु में योग्य गुणों का होना आवश्यक बतलाया है, वहाँ उन्होंने यह भी स्पष्ट चेतावनी दे दी है कि तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होने के लिए शिष्य में भी तीव्र जिज्ञासा एवं सुपात्रता होनी चाहिए। अन्यथा, सद्गुरु कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, सफलता मिलनी नितान्त असंभव है—

'सतगुरु बपुरा क्या करे जो सिष में ही चूक।
सब्द बान बेधै नहीं वांस बजावे फूंक॥'

जायसी ने लिखा है—

'गुरु विरह चिनगी जो मेला।
जो सिलगाय लेइ सो चेला॥

परन्तु यदि चेला नितान्त ही गीली घास हो तब गुरु का परिश्रम अवश्य ही व्यर्थ जायगा। बुद्धि हीन शिष्य के साथ

परिश्रम करना व्यर्थ है। ऐसे ही किसी मूर्ख चेले से खीझ कर कबीरदास जी ने लिखा है—

'पसुवा सों पाल्या परा, रहु रहु हिया न खीज।
ऊसर बीज न ऊगसी घालै दूना बीज॥'

ब्रह्म-ज्ञान लाभ करने में पूर्ण सफलता तभी मिल सकती है जब पहुँचे हुए गुरु और योग्य चेले का संयोग उपस्थित हो। योग्य गुरु को सुपात्र शिष्य मिलना भी बड़े भाग्य की बात है, एवं सच्चे जिज्ञासु के लिए भी सब से अधिक सौभाग्य का दिन वही है जब सद्गुरु कृपा-दृष्टि कर उसे चरण-कमल की शीतल छाया में आश्रय दें—

'सो दिन कैसा होयगा, गुरु गहेंगे बाँह।
अपना करि बैठाहिगे चरन कमल की छांह॥'

और उस शुभ वेला में सद्गुरु के स्पर्श-मात्र से ही शिष्य के सारे पाप धुल जायँगे, उसके ज्ञान-चक्षु खुल जायँगे, वह खरा सोना बन जायगा एवं उसे मुक्ति प्राप्त करने में विलम्ब न लगेगा—

'गुरु पारस गुरु परस हैं चन्दन बास सुवास।
सत गुरु पारस जीव को दीन्हा मुक्ति निवास॥'

कबीर का रहस्यवाद

सांसारिक सुखों की असारता एवं दुःखों की प्रबलता से घबराकर प्राणी किसी ऐसे संबल को ढूँढने लगता है, जो उसे इन सुख-दुःखों से परे करके किसी अनन्त और अलौकिक आनन्द-सागर में मग्न कर दे। संसार की कटुता से घबरा कर ही जीव को परमात्मा का ध्यान आता है। वह अपने आपको किसी अज्ञात शक्ति के इंगित पर नाचता हुआ अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि वह अज्ञात शक्ति उसे ही नहीं सारे ब्रह्माण्ड को परिचालित कर रही है और वही सब का मूल है। महात्मागण अपने जीवन के सारे स्रोत उसी शक्ति की ओर प्रवाहित कर के उससे एकीकरण प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सब को यथा साध्य तथा यथा शक्ति सफलता मिलती है। कोई उससे एकाकार होकर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करता है, कोई उसका दर्शन मात्र कर पाता है और किसी को धुंधला-सा आभास मात्र दिखाई देता है। उसका प्रकाश इतना दिव्य, अलौकिक तथा अनिर्वचनीय है कि उसके दर्शन से वे अवाक् हो जाते हैं। वर्णन करने की चेष्टा करने पर वे वाणी को अपर्याप्त और असमर्थ पाते हैं। अन्य साधन के अभाव में वे भाषा-साधन का ही अवलम्बन ग्रहण करके रहस्यवादी कवि के रूप में उपस्थित होते हैं। स्वभावतः उनके वर्णन में एक धुंधलापन-सा आ जाता है। कभी कभी तो केवल संकेत-मात्र ही होता है। इसी वर्णन करने की असमर्थता को कबीर ने इस प्रकार प्रकट किया है—

'अकथ कहानी प्रेम की किछु कही न जाय।
गूंगे केरी सरकरा खावे और मुसकाय॥'

'गूंगे के गुड़' की तरह कवि स्वयं तो आनन्दानुभव करता है पर उसका वर्णन नहीं कर सकता। केवल इतना कह सकता है:—

"'कहई कबीर पुकारि के अद्भुत कहिये ताहि"

इस 'अद्भुत' का गद्य-द्वारा वर्णन करना तो नितान्त असम्भव है। गद्य की शुष्क, वैज्ञानिक एवं सरल प्रणाली इसके उपयुक्त नहीं। पद्य की संपूर्ण व्यञ्जना-शक्ति द्वारा उसका आभास-मात्र दिया जा सकता है। यही कारण है कि संसार के प्रत्येक देश के महात्माओं ने अपनी रहस्य पूर्ण वाणी को प्रस्फुटित करने का माध्यम पद्य ही चुना है।

महात्मा कबीरदास के रहस्यवाद पर विचार करते समय यह जानना आवश्यक है कि इस नैसर्गिक महाकवि की रचना पर कौन-कौन सी विचार-धाराओं का प्रभाव पड़ा। ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी रहस्यमयी वाणी पर भगवान् शंकराचार्य के अद्वैतवाद एवं मुसलमान सन्तों के सूफ़ी मत का विशेष प्रभाव पड़ा है। देश में प्रचलित ये दोनों विचार-धाराएं निर्गुणोपासक रहस्यवादी सन्तों के उपयुक्त भी थीं; और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न होने वाले तथा नीमा और नीरू के पोष्य-पुत्र द्वारा इन दोनों मतों का समन्वय सम्भव भी था। इन सिद्धान्तों पर ही कबीर ने अपने रहस्यवाद की नींव प्रतिष्ठित की है। अतएव कबीर के रहस्यवाद के मूलाधार इन दोनों सिद्धान्तों का विश्लेषण कर लेना उचित है।

अद्वैतवाद रहस्यवाद की आत्मा है। इसके अनुसार आत्मा

और परमात्मा के बीच माया ने पर्दा डाल रखा है। उपासना अथवा ज्ञानोपार्जन द्वारा इस माया से छुटकारा पाकर आत्मा और परमात्मा की पुनः एक सत्ता स्थापित हो सकती है। आत्मा और परमात्मा का एक ही तत्व होना कबीर ने इस प्रकार प्रकट किया है:—

'जैसे जलहिं तरंग तरंगिनि ऐसे हम दिखरावहिंगे'

वस्तुतः जल और जल की तरंग एक तत्त्व है, परन्तु माया के प्रसाद से वे भिन्न ज्ञात होते हैं। इसी कारण आत्मा और परमात्मा में विछोह डालने वाली इस माया की कबीरदास ने खूब खबर ली है। वे उसका तत्त्व भली प्रकार समझते हैं:—

'माया महा ठगिनी हम जानी'

वे समझते हैं कि यह पिशाचनी माया ही उनके और हरि के बीच में अन्तर डाले हुए है:—

'मैं जानूँ हरि से मिलूँ, मो मन मोटी आस।
हरि बिच डारै अन्तरा माया बड़ी पिसाच॥'

किन्तु, ज्ञान द्वारा इस माया का आवरण छिन्न हो सकता है। इसका वर्णन कबीर ने इस प्रकार किया है:—

आँधी आई ज्ञान की, ठही भरम की भीति।
माया टाटी उड़ गई, लगी नाम से प्रीति॥'

इस ज्ञानार्जन तथा उपासना द्वारा माया के नष्ट हो जाने पर आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाना कबीर ने इस प्रकार प्रकट किया है:—

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तथ कह्यो गियानी॥'

साथ ही शुद्ध अद्वैतवाद और रहस्यवाद में अन्तर जान

लेना भी उचित है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "चिन्तन क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना क्षेत्र में वही रहस्यवाद है"। इन दोनों में केवल भाव प्रकट करने की प्रणाली का ही भेद है। अद्वैतवादी शुष्क ज्ञानी अपने विचार प्रकट करते समय तर्कप्रधान प्रणाली का उपयोग करते हैं, परन्तु रहस्यवादी भावुकता-प्रधान प्रणाली का अनुसरण करते हैं।

कबीर के रहस्य-वाद का दूसरा आधार सूफ़ीमत है। इस मत के अनुसार भी 'बन्दे' और 'खुदा' का एकीकरण हो सकता है। किन्तु अद्वैतवाद के विरुद्ध इस में माया को कोई स्थान नहीं। 'महबूब' के घर का मार्ग सामने है। किसी 'मुरशिद' के इंगित पर चल कर, उस मार्ग की समस्त कठिनाइयों के लिए कटिबद्ध होकर एवं 'शरीयत' (कर्मकाण्ड), 'तरीकत' (उपासना-काराड) तथा 'हक़ीकत' (ज्ञान-काण्ड) की साधना समाप्त कर 'मुरीद' 'मारिफ़त' (सिद्धावस्था) प्राप्त करता है जिससे आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है। तब आत्मा को परमात्मा का अनुभव होता है तथा 'अनलहक़' (सोऽहम्) सार्थक होता है। आत्मा और परमात्मा शराब और पानी की तरह मिल जाते हैं।

अतः, सूफ़ियों में 'मुरशिद' की बड़ी प्रधानता है। 'मुरशिद' (अध्यात्म-गुरु) ही 'मुरीद' (शिष्य) के हृदय में परमात्मा का विरह उत्पन्न करता है तथा उसे प्रेम-पथ पर अग्रसर करता है। जायसी ने लिखा है:—

'गुरू विरह चिनगी जो मेला।
जो सुलगाई लेई सो चेला॥'

गुरु के बिना सूफ़ियों का प्रेम पथ दुसाध्य है। कबीर को भी गुरु के बिना सब अन्धकार-मय दिखाई देता है:—

"चौंसठ दीवा जोई के, चौदह चंदा माहिं।
तेहि घर किसका चाँदना, जेहि घर सतगुरु नाहिं॥"

द्वितीया से लेकर पूर्णमासी तक के सारे चन्द्र एक साथ ही उदित हों और चौसठ दिए जलाए जाएं, फिर भी गुरु के बिना उस प्रणय-पथ पर अन्धकार ही रहेगा—मार्गच्युत हो जाने की शंका तथा सम्भावना बनी ही रहेगी।

किन्तु, सूफ़ियों की प्रधान विशेषता तो उनका प्रेम-राज्य है। वे सदा अपने प्रियतम के गहरे इश्क़ में दीवाने रहते हैं। इसी प्रेम के लावण्य का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध सूफ़ी कवि जायसी लिखते हैं:—

'तीन लोक चौदह खंड, सबै परे मोहि सूझि।
प्रेम छाड़ि नहि लोन, जो देखा मन बूझि॥'

कबीर के रहस्यवाद पर इस प्रेम-राज्य का पूर्ण प्रभाव है। अपने प्रियतम की लाली में वह सारे संसार को रँगा देखते हैं और उसी में आत्म-विस्मृति कर देते हैं—

'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।'

कबीर वास्तव में प्रेमोपासक रहस्यवादी (Love mystic) थे। यदि किसी को कबीर का कोमल हृदय देखना हो तो उसे इनके रूढ़ियों एवं कुरीतियों के विरुद्ध व्यंग्यों और कटूक्तियों में नहीं देखना चाहिये, वरन् इनके प्रेम-निरूपण, विरह निवेदन आदि में खोजना चाहिये। वहीं उनके बाल-सुलभ-सरलता-सम्भूत एवं भक्ति-विह्वल हृदय के दर्शन होते हैं। कुरीतियों के विवेचन के समय तो कबीर युद्धभूमि में ललकारते हुए एक वीर सेनापति के समान दिखाई देंगे। पर, 'साहब' के

सम्मुख वे भोले बालक के समान भक्ति-विह्वल सरल हृदय लेकर आते हैं—

'जो तन माहैं मन धरै, मन धरि निर्मल होय।
साहब सो सन्मुख रहै, तौ फिर बालक होय॥'

इस प्रेम-राज्य में सन्तगण प्रेम की मदिरा में छके हुए उसके कभी कम न होने वाले नित्य-व्यापी खुमार में मस्त विचरण करते रहते हैं। उन्हें तन-मन की सुध नहीं रहती। उन पर पूर्ण आत्म-विस्मृति का शासन रहता है—

'हरि-रस पीया जानिये, कबहुँ न जाय खुमार।
मैंमन्ता घूमत रहै नाहीं तन की सार॥'

इस राम-रस को पीकर कबीरदास मस्त हो जाते हैं। कैसी अपूर्व है वह मस्ती! कबीर विह्वल हो जाते हैं, कातने-बुनने का स्मरण नहीं रहता। ताना, बाना, कूँची सभी मस्ती से नाचते हुए से दिखाई देते हैं—

'को बीनैं प्रेम लागौ री, माई को बीनैं।
राम रसांइण माते री, माई को बीनैं॥ टेक॥

पाई पाई तूं पुतिहाई।
पाई की तुरियां बेचि खाई री, माई को बीनैं॥

ऐसैं पाई पर बिथुराई।
त्यूं रस आन बनायौ री, माई को बीनैं॥

नाचै तांनां नाचै बांनां।
नाचै कूंच पुरांनां री, माई को बीनैं॥

कर गहि बैठि कबीरा नाचै।
चूहै काट्या तांनां री, माई को बीनैं॥'

पर इस मदिरा का मूल्य बहुत अधिक है, यह बड़े त्याग के

पश्चात् प्राप्त होती है। इसका प्याला आत्मोत्सर्ग की चरम सीमा पर पहुँचाने पर ही होठों से लग पाता है---

'कबीरा भाटी कलाल की, बहुतक बैठे आई।
सिर सौंपे सोइं पिवै, नाहि तो पिया न जाई॥'

सूफ़ी लोग सदा एक अनन्त-विरह की वेदना से व्यथित रहते हैं। जब तक आत्मा का परमात्मा से अनन्त-संयोग न हो जाय, प्रिय से प्रेमी का साक्षात्कार न हो जाय, तब तक चैन कैसा ? इसी विरह की अग्नि से जायसी ने कौवे और कोयलें काली कर दीं, पेड़ जला दिये और समुद्र सुखा दिये। इन शब्दों को सुन किस सहृदय का हृदय द्रवीभूत न हो जायगा ?

'हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भई सब ताँत।
रोंव रोंव ते धुनि उठै कहौं बिथा केहि भांति॥'

जायसी जिस प्रकार 'प्रीतम' को पुकारते हुए कहते हैं "अबहुं निठुर आउ एहि बारा" उसी प्रकार कबीर भी मार्मिक शब्दों में अपना विरह-निवेदन कर अपने प्रियतम का आह्वान करते हैं :—

'प्रीत लगी तुअ नाव की पल बिसरे नाहीं।
नज़र करो अब मेहर की मोहि मिलौ गुसाईं॥
विरह सतावे मोहि को जिउ तड़पे मेरा।
तुम देखन की चाव है प्रभु मिलौ सवेरा॥'

इसी दुःख में कातर होकर वे लिखते हैं :—

'सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै॥'

'राम सनेही' के वियोग में व्याकुल कबीरदास लिखते हैं—

'कब देखूँ मेरे राम सनेही,
जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥ टेक ॥
हू तेरा पन्थ निहारूँ स्वामी ।
कबरे मिलहुगे अंतरजामी ॥
जैसै जल बिन मीनं तलपै,
ऐसै हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥
निस दिन हरि बिन नींद न आवै ।
दरस पियासी राम क्यूं सचु पावै ॥
कहै कबीर अब बिलम्ब न कीजै ।
अपनौं जानि मोहि दरसन दीजै ॥'

कबीर की अक्खड़ भाषा भी इस प्रेम-राज्य में आकर मधुर हो जाती है । नैसर्गिक कवि की स्वयंभू प्रतिभा का यह मुख्य लक्षण है कि वह यथावसर बिना प्रयास ही उपयुक्त रूप धारण कर लेती है। जायसी की माधुरी से टक्कर लेती हुई भाषा में कबीर लिखते हैं :—

'यह तन जारौं मसि करौं लिखौं राम को नाऊँ ।
लेखनि करौं करंक की, लिखि राम पठाऊँ ॥'

इस पर सहसा नागमती की वियोग-वाणी स्मरण हो आती है :—

'यह तन जारौं छारकै, कहौं कि पवन ! उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहां पाँव ॥'

राम की वियोगिनी कबीर की आत्मा उन दिनों की अधीरता से बाट देखती है जब वह प्रियतम का आलिंगन करेगी :—

'वै दिन कब आवैंगे माई ।
जा कारण हम देह धरी है, मिलबौ अंग लगाई ॥'

पर इन सन्त कवियों का यह प्रेम नितान्त निस्वार्थ प्रेम है। धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष पाने की न तो वे अपने प्रियतम से इच्छा ही करते हैं और न प्रार्थना। वे तो केवल (साक्षात्) चाहते हैं। दादू ने एक स्थान पर लिखा है :—

"दरशन दे, दरशन दे, तेरी मुक्ति न चाहूं रे"

कबीर भी कहते हैं :—

'जब तक भक्ति सकाम है तब लग निस्फल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिले निःकामी निज देव॥'

वे तो केवल उससे साक्षात्कार के इच्छुक हैं। जायसी ने भी अपनी भोली भाषा में लिखा है :—

'ना हौं सरग के चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेति कछु काजू।
चाहौं ओहि कर दरसन पावा। जेहि मोहि आनि प्रेम-पथ लावा॥'

इन महात्माओं को प्रिय-दर्शन ही अभीष्ट है। उसके संयोग में ही इनके जीवन का परम-आनन्द विद्यमान है और उसके वियोग की ज्वाला से इन का हृदय सतत दग्ध होता रहता है। कबीर कितने मर्म-स्पर्शी शब्दों में लिखते हैं :—

'तरफै बिन वालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहीं निदिया, तरफ तरफ के भोर किया॥'

इस प्रेम की पीर से व्यथित भक्त की औषधि करने वैद्य आया, पर वह मूर्ख तो नाड़ी-परीक्षा करने लगा। उसे क्या पता कि यह रोग तो हृदय का है। कबीर ने लिखा है :—

'कबीरा बैद बुलाइयां पकरि के देखी बांह।
बैद न वेदन जानई करक करेजे माहीं॥'

इसी 'करेजे की करक' को मीरा ने भी प्रकट किया है—

'बाबल वेद बुलाइया रे पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख वैद मरम नहिं जानै करक करेजे माहिं॥'

कबीर की उपर्युक्त दो पंक्तियों में मीरा की पंक्तियों से कम माधुर्य्य नहीं!

आत्मा और परमात्मा की स्त्री और पुरुष के रूप में कल्पना करने से रहस्यवादी कवियों की रचना में एक विशिष्ट माधुर्य्य आगया है। इस भाव में भक्तगण सदा मग्न रहते हैं। भक्त—शिरोमणि मीराबाई को तो संसार में कोई पुरुष ही नहीं दिखाई देता था। उन्हें विश्वात्मा अभिसारिका के रूप में परमात्मा-स्वरूप गोपाल-कृष्ण के प्रति अभिसारोन्मुख दिखाई देती थी।

इस प्रेम-मार्ग की दुरूहता का वर्णन भी कबीर तथा अन्य सन्तों ने पर्याप्त रूप में किया है सर्वस्व—त्याग, आत्म-विस्मृति तथा आत्म समर्पण तो इसकी वर्णमाला है। कबीर दास लिखते हैं:—

'यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भूईं धरै तब आवै इहि माहिं॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न मोल बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥'

प्रेम-पन्थ की दुरूहता एवं गम्भीरता का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं:—

'समझ सोच पग धारौं जतन से बारबार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पांव नहीं ठहराय॥'

इस प्रेम-पंथ के विषय में जायसी ने लिखा है:—

'जो लगि आप हेरान न कोई।
तो लगि हेरत पाँव न सोई॥'

पर कबीर के प्रियतम उनके हृदय में ही स्थित हैं। उन्हें बाहर ढूँढना अन्धापन है:—

'प्रीतम को पतियां लिखूं, जो कहुं होय विदेस।
तन में मन में नैन में, वाकों कहा सन्देस॥'

उनका प्रियतम उन्हें वन-वन नहीं भटकाता, उनके घर ही आकर मिल जाता है। केवल सच्ची लगन चाहिये:—

'बहुत दिनन के बिछुरे हरिपाए।
भाग बड़े घर बैठे आए॥'

कबीर के प्रभु तो, वास्तव में हृदय में ही रहते हैं:—

'मो को कहां ढूंढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।'

इसीको जायसी ने इस प्रकार कहा है:—

'पिउ हिरदे महँ भेंट न होई।
केहि रे मिलाव कहौं केहि रोई॥'

अन्त में प्रतीत होता है कि कबीर का अपने प्रियतम से साक्षात्कार हो गया। आत्मा का परमात्मा से मिलन हो गया। साधक ने सिद्धि प्राप्त कर ली। आत्मा स्वयं फ़ना होकर बक़ा के लिये प्रस्तुत हुई तथा 'अनल हक़' सार्थक हुआ। संसार और-का-और हो गया। माया का परदा फट गया।

"घट घट में रटना लगि रही,
परघट हुआ अलेख जी।
कहुं चोर हुआ कहुं साहु हुआ,
कहुं बाह्मन है कहुं सेख जी॥'

चोर, साहु, बाह्मन और सेख सब एक ही पिण्ड के अंश दिखाई देने लगे। प्रकृति के व्यापार भी और-के और हो गये। माली का फूल तोड़ना भी आध्यात्मिक तत्वों की सूचना देने

लगा। फूले फूल कलियों को उपदेश देते प्रतीत होने लगे। बढ़ई को आते देख पेड़ का हिलना भी आत्मा को उपदेश देता ' 'लम पड़ने लगा—हे पक्षी (आत्मा) तुम अपने घर जाओ, हम तो अब कटेंगे ही:—

'बाढ़ी आवत देख कर तरवर डोलन लाग।
हम काटे की कुछ नहीं पंछेरू घर भाग॥'

यह सब उसी संयोग के परिणामस्वरूप हुआ। उसीने कबीर के ज्ञान-चक्षु खोल दिये और वे प्रकृति के प्रत्येक कम्पन में उस अनन्त आत्मा का संचार देखने लगे।

उस संयोग में कबीर की आत्मा को ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ और वे मस्त होकर गा उठे:—

'न पल बिछुड़े पिया हम से, न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या ?'

इस आनन्द-मिलन के पश्चात्, आत्मा और परमात्मा के संयोग के पश्चात्, कबीर अमर हो गए। उन के हृदय से गर्वोक्तियाँ निकलीं। पर, वास्तव में वे गर्वोक्तियाँ नहीं, एक प्राप्त-सिद्धि साधक का जयोल्लास है। जीवन की अनन्यतम परीक्षा में सफल छात्र का सन्तोषोल्लास है। वह छोटे मुंह बड़ी बात नहीं, अपनी असीम आराधना से रिझाए हुए सर्वशक्तिमान् प्रियतम की भुजाओं के बल पर प्रियतमा का उचित गर्व है। वे कहते हैं:—

'हम न मरैं मरि है संसारा।
हम कूं मिल्या जियावन हारा॥टेक॥
अब न मरौं मरनैं मन मांनां।
तेई मुए जिनि राम न जाना॥

हरि मरि हैं तो हम हूं मरि हैं।
हरि न मरैं हम काहे कूं मरि हैं॥
कहै कबीरा मन मनहि मिलावा।
अमर भये सुख सागर पावा॥"

जब राम के साथ प्रियतमा आत्मा 'शराब और पानी' की तरह घुल मिलकर एक हो गई, तब राम के और कबीर की उस आत्मा के मूल्य में अन्तर हो ही कैसे सकता है? जब एक दूसरे का भेद ही न रहा तो एक का दूसरे के बिना नाश कैसे हो सकता है? अस्तु।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि शंकर भगवान् के अद्वैतवाद से माया और चिन्तन, तथा सूफ़ी-मत से प्रेम-तत्व लेकर कबीर ने अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। पर सूफ़ियों के विरुद्ध कबीर ने परमात्मा को पत्नी रूप में नहीं माना, पति, पिता एवं माता के रूप में माना है।

'हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।'
'बाप रामराया अबहू सरन निहारी।'
'हरि जननी मैं बालक तोरा।'

सत्य तो यह है कि कबीर की यह परमात्मा और आत्मा की पति-पत्नी की कल्पना भी ठेठ सूफ़ी मत की नहीं है। यह उन्होंने मूल में तो निम्बार्काचार्य्य की माधुर्य्य-भक्ति से ली है। कबीर के माधुर्य्य-भाव और निम्बार्काचार्य के माधुर्य्य-भाव में यही अन्तर है कि कबीर के भगवान् निर्गुण हैं और निम्बार्क के सगुण। कबीर ने निम्बार्क स्वामी के भगवान् को सूफ़ी-मत के रंग में रंग कर सगुण से निर्गुण कर दिया। अस्तु।

कबीर ने अपने 'पीव' को खोज लिया। वे आत्मा तथा परमात्मा का अनन्त-मिलन कराने में समर्थ हुए। पर जैसे ही उन्होंने नीचे इस मर्त्य-लोक की ओर दृष्टि डाली तो उन्होंने माया के विकराल मोहनमन्त्र में वशीभूत इस असहाय संसार को देखा। माया के घने आवरण से सब के ज्ञान चक्षु मूंदे हुए दिखाई दिए। दयालु महात्मा का हृदय द्रवीभूत हुआ। अतः उन्होंने परमात्मा के उस दिव्य स्वरूप को सांसारिक मनुष्यों को समझाने का प्रयत्न कर उन्हें मिलनपथ पर अग्रसर करने की चेष्टा की। पर वह अवर्णनीय वस्तु सामर्थ्यहीन मानव-शब्दों की परिभाषा में कैसे बाँधी जाती ? कबीर ने स्वयं कहा है :—

'कहिबे की सोभा नहीं देखे ही परमान।'

अतः उस मनीषी द्वारा भी वह तत्त्व पूर्णतः स्पष्ट न हो सका। उनकी अटपटी वाणी, उलट-वांसियों, अर्ध-प्रस्फुटित शब्दों और रूपकों द्वारा उसका संकेत मात्र व्यक्त हो सका। इसी प्रयास के परिणाम स्वरूप कबीर का रहस्यवाद प्रस्तुत हुआ।

कबीर ने काव्य के रूढ़िगत नियमों के अनुसार किसी साँसारिक वस्तु का वर्णन नहीं किया, वरन् अपने नैसर्गिक ज्ञान से मस्तिष्क में प्रथम आने वाले शब्दों द्वारा विश्व के गहनतम तत्त्व का निरूपण किया है। अतः साधारण व्यक्ति मानव-भाषा के अपर्याप्त शब्दों के माध्यम-द्वारा इस महात्मा-कवि के हृदय से तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ होते हैं। कबीर ने स्वयं चेतावनी देदी है :—

'ज्यों गूंगे के सेन को गूंगा ही पहिचान।
त्यों ज्ञानी के सुक्ख को ज्ञानी होय सो जान॥'

कबीर की वाणी के पूर्णतः स्पष्ट न होने का कारण यही है। कवि को समझने के लिए कवि-हृदय चाहिए, उसी प्रकार कबीर का रहस्यवाद समझने के लिए आत्म-ज्ञान की आवश्यकता है।

यह किसी दम्भी का प्रलाप नहीं वरन् एक दया-द्रवित महात्मा के हृदय से लोकोपकार के लिए किये हुए निर्गुण के वर्णन का रहस्य-मय निर्झर है। यही कारण है कि पीछे के सारे संत-कवियों की रचनाएँ कबीर की उच्छिष्ट उक्तियां-मात्र हैं तथा वर्तमान काल के कवि-सम्राट कवीन्द्र रवीन्द्र भी उनका आंशिक ऋण-भार वहन करते हैं। हिन्दी की आधुनिक काल की 'रहस्य-वादी' कहलाने वाली कविताओं का भी यदि विश्लेषण कर के देखा जाय तो उनमें अधिकांशतः कबीर की अमर वाणी के ही कणों की आभा दिखाई देगी। हिन्दी की—भारतीय भाषाओं की—कविता में रहस्य-वाद की कभी एकान्त अनुपस्थिति नहीं रही, और कबीर के पश्चात् के सभी रहस्य-वादी कवि कबीर के ऋणी हुए, इसका मुख्य कारण यही है कि भारत रहस्य-वादी देश है तथा उस रहस्यवाद के प्रतिनिधि कवि हैं—महात्मा कबीरदास।

कबीर और हठयोग

कहते हैं कि स्वामी रामानन्द जी की आयु ज्योतिषियों ने बहुत कम बतलाई थी। स्वामी राघवानन्द जी ने, जो बड़े भारी योगी थे, इन्हें योग-साधन की शिक्षा दी। मृत्युयोग के समय स्वामी रामानन्द जी समाधिस्थ हो गये और इस प्रकार अपनी स्वल्प आयु को बढ़ा सके। अतः यह स्वाभाविक है कि उनकी शिष्य-मण्डली में योगसाधन की पर्याप्त चर्चा रही हो। महात्मा कबीर को योग-सम्बन्धी ज्ञान सर्व प्रथम सम्भवतः अपने गुरु-भाइयों के मौखिक विवेचन द्वारा ही मिला होगा। उनकी रचनाओं में हठयोग की क्रियाओं का वर्णन प्रचुर परिमाण में मिलता है। किन्तु, उन्होंने उसका कोई सम्बद्ध अथवा विस्तृत विवेचन नहीं किया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने हठ-योग का नियमित एवं सांगोपांग अध्ययन नहीं किया था।

उस समय गोरखपंथी साधुओं का भी बहुत ज़ोर था। उन का प्रधान स्थान गोरखपुर मगहर के पास ही है। अन्त समय में तो कबीर का सम्बन्ध मगहर से था ही, कुछ विद्वान् यह भी अनुमान करते हैं कि संभवतः कबीर का जन्म भी मगहर में हुआ था। हम तो इससे केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि कबीर दास जी का मगहर से पर्याप्त सम्बन्ध रहा था। गोरखपुर पास होने के कारण कबीर दास जी के समान सत्संगी महात्मा

का गोरखपंथ के सिद्धान्तों को जान लेना स्वाभाविक था। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वामी रामानन्द जी के योग-सम्बन्धी विश्वास की प्रेरणा के अतिरिक्त गोरख-पंथी साधुओं के सत्संग-द्वारा भी कबीर दास जी को हठयोग की बहुत सी बातें ज्ञात हुई होंगी।

यहां हठयोग के अंगों, चक्रों अथवा नाड़ियों आदि का विस्तृत विवेचन कर प्रसंग को व्यर्थ ही बढ़ाना उचित नहीं है, अतः उनका केवल सूक्ष्म-रूप से उल्लेख-मात्र नीचे किया जाता है।

हठयोग में मानव शरीर को सब प्रकार की सिद्धियों का मुख्य साधन माना गया है। यदि मनुष्य अपनी दुर्वृत्तियों का दमन न करे तो यह शरीर उसके आध्यात्मिक पतन का कारण बन जाता है, किन्तु यदि संयम और नियमों द्वारा अपनी वासनाओं का दमन कर शरीर की सद्-शक्तियों को जाग्रत किया जाय तो यही मानव शरीर स्वांतःस्थ परमात्मा के दर्शन का साधन हो जाता है। कस्तूरी के समान परमात्मा भी इस देह रूपी मृग में निवास करते हैं, उन्हें कहीं बाहर खोजना मूर्खता है—

'सो साईं तन में बसै, भ्रम्यो न जाणै तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूँ, फिरि फिरि ढूँढै घास॥'

हठयोगियों के अनुसार मानव शरीर की सद्शक्तियों का वर्णन करते हुए कबीरदास जी लिखते हैं—

'अवधू अंधकूप अंधियारा।
या घट भीतर सात समुन्दर या ही में नद्दी नारा।
या घट भीतर काशी द्वारका, याहि में ठाकुर द्वारा॥
या घट भीतर चन्द सूर हैं याहि में नौ लख तारा।
कहत कबीर सुनहु भइ साधो याही में सत करतारा॥'

मानव शरीर के निर्माण का वर्णन करते हुए भी कबीर दास जी ने योगियों की ईड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ी, पंच तत्त्व, तीन गुण आदि का उल्लेख किया है। शरीर का चादर से रूपक बाँधते हुए वे लिखते हैं—

'झीन झीनी बीनी चदरिया।
काहे क ताना काहे क भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला, पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया॥
अष्ट कमल दल चरखा डोलै, पांच तत्त गुण बीनी चदरिया।
साईं को बुनत मास दस लागै ठोक ठोक कै बीनी चदरिया॥

अतः, हठयोग के अनुसार इस शरीर की शक्तियों को जाग्रत कर के ही ब्रह्म के पाने का उद्योग करना चाहिए। इसके लिए प्राणायाम द्वारा ईड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियों को उत्तेजित किया जाता है। परिणाम-स्वरूप सर्प के समान साढ़े तीन बारी मुड़ी हुई 'कुंडलिनी' जाग्रत होकर ऊर्द्ध्वगामी होती है। इसका निवास आधार चक्र में होता है तथा इसका मुख नीचे की ओर होता है। पाँच हज़ार कुंभक कर लेने के पश्चात् कुंडलिनी उलट जाती है अर्थात् उसका मुख ऊपर की ओर हो जाता है। इस अवस्था में आजाने के पश्चात् यह सुषुम्ना नाड़ी के सहारे ऊपर को ब्रह्मरंध्र की ओर अग्रसर होती है। मार्ग में भिन्न-भिन्न अंगों में छः चक्र मिलते हैं, जिनके जाग्रत होने से भिन्न-भिन्न सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इन चक्रों को पद्म अथवा कमल भी कहते हैं तथा प्रत्येक चक्र के दलों की संख्या भी अलग अलग है। कबीर की रचनाओं में इन चक्रों के नाम तथा दलों की संख्या आदि बहुत आई हैं, अतः उनका जान लेना भी आवश्यक है। इन षट्-चक्रों के नाम, स्थान तथा दलों की

संख्या निम्नलिखित है—

नाम	स्थान	दलों की संख्या
१. आधार चक्र	गुदा	चार
२. स्वाधिष्ठान चक्र	लिंग	षट्
३. मणिपूरक चक्र	नाभि	दस
४. अनाहत चक्र	हृदय	बारह
५. विशुद्ध चक्र	कण्ठ	सोलह
६. अज्ञा चक्र	भ्रुकुटी	दो

इन चक्रों को पार करती हुई तथा इन्हें जाग्रत करती हुई कुंडलिनी ब्रह्मरंध्र तक पहुंचती है। इसी ब्रह्मरंध्र में ब्रह्म का निवास है। वहां पर एक सहस्त्र-दल कमल है, जिस में स्थित 'चन्द्र' से ईड़ा नाड़ी के द्वारा सुधा का स्राव होता है। जो योगी नहीं हैं वे इस सुधा का उपयोग नहीं कर सकते, पर जिन्होंने योग साधन किया है वे इसका उपयोग कर जरा-मरण के भय से मुक्त हो जाते हैं। हठयोगियों का ध्येय कुण्डलिनी को इसी ब्रह्म-रंध्र तक पहुँचा कर उसमें स्थित ब्रह्म के समीप प्राणों को पहुँचा देना होता है। इस प्रकार समाधि द्वारा आत्मा का शरीरस्थ परमात्मा से एकीकरण संभव होता है तथा अनाहद नाद सुनने का परमानन्द मिलता है। कबीरदास जी ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

'उलटे पवन चक्र षट् बेधा मेरडंड सरपूरा।
गगन गरजि सुंनि समाना, बाजे अनहद तूरा॥
सुमतिस रीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी।
पद आनन्द काल थैं छूटे, सुख में सुरति समानी॥'

हठयोग के इन्हीं तत्वों का ज़रा विस्तृत रूप कबीरदास

जी के निम्नलिखित रूपक में बड़े मधुर रूप में मिलता है—

'हिंडोलना तहाँ झूलै आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलना, सब संतन को विश्राम ॥ टेक ॥
१चंद २सूर दोइ खंभवा, ३बंकनालि की डोरि।
झूलैं ४पंच पियारियां तहां झूलै जिय मोर ॥
५द्वादस गम के अन्तरा तहां अमृत कौ ग्रास।
जिनु यह अमृत चाषिया सो ठाकुर हंम दास ॥
सहज ६सुन्न कौ नेहरो गगन मंडल सिर मौर।
दोऊ कुल हम आगरी जौ हम झूलैं हिंडोल ॥
अरध उरध की ७गंगा ८जमुना ९मूल कमल कौ घाट।
१०षट् चक्र की गागरी ११त्रिवेनी संगम बाट ॥
१२नाद ब्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।
कहैं कबीर गुण गाइ ले गुरु गंम उतरै पार ॥'

ऊपर लिखा जा चुका है कि भिन्न-भिन्न चक्रों के जाग्रत होने से अलग-अलग सिद्धियां प्राप्त होती हैं। मूलाधार चक्र से दादुरी-सिद्धि (उछलने की शक्ति) प्राप्त होती है, स्वाधिष्ठान

(१ = ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्रदल कमल के भीतर एक चन्द्राकार स्थान जिससे सदा अमृत का स्राव होता रहता है। २ = मूलाधार चक्र में स्थित एक गोलाकार स्थान जिसमें विष का स्राव होता है, यह विष पिंगला नाड़ी द्वारा प्रवाहित होकर मनुष्य को वृद्ध बनाता है। ३ = कुंडलिनी। ४ = पाँच गुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) ५ = अनाहत चक्र। ६ = ब्रह्मरंध्र। ७ = इड़ा नाड़ी। ८ = पिंगला नाड़ी। ९ = मूलाधार चक्र। १० = मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूरक आदि छः चक्र। ११ = भौंहों के मध्य का स्थान। १२ = अनहदनाद।)

से अणिमा और लघिमा सिद्धियां प्राप्त होती हैं अर्थात् अत्यन्त छोटा और हलका रूप धारण करने की शक्ति आ जाती है, मणिपूरक के जाग्रत होने से पाताल सिद्धि (सदा सुख देने वाली) प्राप्त होती है, अनाहत चक्र के चिन्तन से खेचरी (आकाश में चलने की) शक्ति मिल जाती है, आदि। यद्यपि कबीरदास जी ने योग की क्रियाओं का वर्णन किया है और उन पर पर्य्याप्त अनुरक्ति भी दिखलाई है, तथापि उनका उद्देश्य कभी ये सिद्धियां प्राप्त करना नहीं रहा, सच्चे साधु योग द्वारा सिद्धि प्राप्त करना नहीं चाहते। इन सिद्धियों के इच्छुक सिद्धों और सच्चे साधुओं में अन्तर बतलाते हुए कबीरदास जी लिखते हैं—

'साधु सिद्ध बड़े अन्तरा जैसे आम बबूल।
बाकी डाली अभी फल, वाकी डाली शूल ॥'

सच्चे साधु परमात्मा से ऐक्य पाना ही अपना परमलक्ष्य बनाते हैं। हठयोग से अष्ट सिद्धियां प्राप्त करने का प्रयास करने वाले तो कच्चे योगी होते हैं। उनके विषय में कबीरदास जी ने लिखा है—

कहहि कबीर सुनहु हो सन्ता, जोगिन सिद्धि पियारी।'

ये सिद्धियां माया में लिप्त करने वाली हैं, अतः त्याज्य हैं। कबीरदास जी तो योग साधन द्वारा आत्म-ज्ञान-रूपी उस दृढ़ नौका का निर्माण कर लेना चाहते हैं, जिसमें अपनी आत्मा को बैठाकर, ग्राह-रूपी माया परिवार से बचाकर, उसे भवसागर के उस पार अनहद-शब्द पूर्ण अनन्तालोकमय परब्रह्म के लोक में पहुँचा सकें।

धर्म-समन्वय

यदि उदारता पूर्वक विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि सब धर्मों का मूल एक ही है। सभी धर्म मुमुक्षु जीवों को परब्रह्म परमात्मा तक पहुंचाने के मार्ग हैं। यह हो सकता है कि एक मार्ग अपेक्षाकृत अधिक प्रशस्त, सुरक्षित एवं सरल हो और दूसरा संकीर्ण, अरक्षित एवं कुटिल। किंचित् उदार विचार द्वारा विभिन्न धर्मों की संकीर्ण सीमाएं अपने आप दृष्टि से ओझल हो जाती हैं और यह तत्त्व दृष्टि गोचर होता है। जिस प्रकार विभिन्न देशों और कालों की विभिन्न परिस्थितियों के कारण वहां की शासन पद्धतियां भिन्न-भिन्न होती हैं, उसी प्रकार विभिन्न धर्मों की गौण बातें-कर्मकाण्ड आदि—भी भिन्न-भिन्न होती हैं, किन्तु, जिस प्रकार सभी शासन प्रणालियों का मूल उद्देश्य देश में सुव्यवस्था रखना एवं देश को बाह्याभ्यन्तर शत्रुओं से बचाना है, उसी प्रकार सभी धर्मों का प्रधान उद्देश्य भगवान् का साक्षात्कार कराना एवं मनोराज्य को बाह्याभ्यन्तर शत्रुओं से बचा कर मनुष्य को सद्-जीवन व्यतीत करने में समर्थ करना है।

किंतु दुर्भाग्य से मनुष्य जाति की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वह अच्छी से अच्छी वस्तु का भी क्रमशः दुरुपयोग करने लगती है। धर्म के समान कल्याणकारी वस्तु भी झगड़ों का कारण बना ली गई, उसे मिथ्या आडम्बरों से भर दिया गया। धर्म के

नाम पर अपरिमित रक्तपात हुआ, धर्म के नाम पर ही अगणित ढोंग चल निकले और धर्म के नाम पर ही व्यक्तिगत और जातिगत स्वार्थों को सिद्ध किया गया। किन्तु, जहां एक ओर यह सत्य है, वहाँ यह भी सत्य है, कि कभी न कभी एकाध ऐसा महात्मा भी उत्पन्न होता है जो सब धर्मों की नैसर्गिक एकता देखता और मानव जाति को इस सत्य से परिचित कराने का प्रयत्न करता है।

महात्मा कबीर ने भी धर्मों की इस संकीर्ण हदबन्दी के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी। उन्होंने हिंदू और इस्लाम धर्म की एकता का मन्त्र फूँकने का शक्ति-भर प्रयत्न किया। उन्होंने इन धर्मों के कल्याणकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर उन्हें उदारता पूर्वक पालन करने का उपदेश दिया। उन्हें हिन्दू और मुसलमानों का भेद अच्छा नहीं लगता था। वह इहलौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से घातक था। अतः उन्होंने राम और रहीम की एकता का निर्घोष अपनी सम्पूर्ण शक्ति से किया। राम और रहीम एक ही परम शक्ति के दो नाम हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक ही ईश्वर ने बनाया है—

'हमतौ एक एक करि जांनां।
दोई कहैं तिनही कौं दोजग, जिन नाहिन पहिचाना ॥टेक॥
एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक गढ़े सब भांड़े एक ही सिरजन हारा।
जैसे बाढ़ी काष्ट ही कटै, अगिनि न काटै कोई।
सब घट अन्तर तू ही व्यापक, धरै सरूपैं सोई ॥'

ये भेद तो लोगों ने भ्रमवश उत्पन्न कर लिये हैं। हिन्दू और तुरुक दोनों के हृदय में एक ही ब्रह्म बोल रहा है। वह न

हिन्दू है, न मुसलमान :—

'अरे भाई दोइ कहां सो मोय बतावौ,
बीच ही भरम का भेद लगावौ ॥टेक॥
जोनि उपाय रची द्वै धरनी,
दीन एक बीच भई करनी ॥
राम रहीम जपत सुधि गई,
उनि माला उनि तसबी लई ॥
कहै कबीर चेतहु रे भोंदू,
बोलन हारा तुरूक न हिन्दू ॥'

किन्तु कबीर साहब इतने से ही संतुष्ट न हो सके। उन्होंने अपने उपदेश इस दृष्टि से दिए कि उनका उनके अनुयायियों द्वारा एक नए धर्म के नवीन मसीहा द्वारा दिए गए आदेशों की भाँति पालन किया जाय। धर्मोपदेश इतनी गुरु वस्तु है कि जब तक वह किसी महान गौरवशाली उद्गम द्वारा प्रसूत न हो, तब तक उस पर साधारण जनता का विश्वास नहीं जमता। जैसे ही उपदेशकर्ता में महत्ता की छाप लगी कि उसके उपदेश बिना तर्क की कठोर कसौटी पर कसे ही स्वीकार कर लिए जाते हैं। यही कारण है कि, यद्यपि महात्मा कबीर ने अपने धर्म सिद्धान्तों में मुख्यतः हिन्दू और इस्लाम धर्म के उपयोगी सिद्धान्तों का समन्वय मात्र किया है, तथापि उन्होंने उन्हें एक नए पंथ के रूप में प्रकाशित किया है और अपने आपको ईश्वर का भेजा हुआ मसीहा कहा है—

'समरथ का परवाना लाए हस उबारन आए'

यदि कबीर साहब यह 'समरथ का परवाना' न दिखाते तो उनके उपदेश में कोई न्यूनता तो न आती किन्तु उनकी शिष्य

मंडली के हृदय में उपदेशक के प्रति वह धार्मिक भय एवं श्रद्धा भी न आ सकती थी जो नवीन पंथ के पनपने के लिए मुख्य 'खाद' है। कबीर साहब कहते हैं कि केवल उन्हीं के बतलाए हुए मार्ग पर चलने से भ्रम जाल छूट सकता है अन्यथा नहीं—

'कहा हमार मानैं नहीं, किम छूटै भ्रम जाल'।

ऐसी बात पर विश्वास तभी हो सकता है जब उसके कहने वाले की अलौकिकता पर पूर्ण विश्वास हो। अतः वे कहते हैं कि कबीर सनातन काल से उपदेश करते चले आ रहें हैं, उन पर जितनी शीघ्रता से हो सके विश्वास करना चाहिए—

'हम कबीर जुग-जुग कही। जब ही चेतो तब ही सही।'

यह उपदेश कितना प्राचीन है, इसके विषय में उन्होंने लिखा है—

'जंहिया किरतिम ना हती, धरती हता न नीरा।
उतपति परलय ना हती, तब यह कहा कबीरा॥'

किन्तु 'कबीर' से तात्पर्य यहां उस हाड़-मास के पुतले से नहीं हो सकता जो नीमा और नीरू के यहाँ पला था और यह उपदेश भी उन शब्दों में ही नहीं बँधा है जो बीजक में लिखे हैं। यह 'कबीर' उस अनन्त आत्मा का प्रतीक है जो सदा ही किसी न-किसी रूप में संसार को सचेत करती रहती है, और यह उपदेश वह सनातन सत्य है जो सदैव उसकी वाणी-द्वारा मानव-जाति को शान्ति प्रदान करता रहता है।

रेवरेंड जी० एच० वेस्कट् ने अपनी पुस्तक 'कबीर एण्ड दी कबीर पन्थ' की भूमिका में लिखा है कि कबीर-पन्थ पर हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्म का प्रभाव पड़ा है। सम्भवतः वेस्कट् साहब ने ईसाई पादरी होने के कारण ही कबीर-पंथ की यह तीसरी टाँग पैदा कर दी है। वैसे तो कबीरसाहब केवल दो

राहों से ही सम्बन्ध रखते हैं। खंडन-मण्डन में भी उन्होंने हिन्दू और इस्लाम धर्म का अथवा इनके अन्तर्गत मतमतान्तरों (शाक्तमत, वैष्णव-सम्प्रदाय आदि) का ही उल्लेख किया है। वे केवल 'राम रहीम' का ही साम्य दिखलाते हैं। निन्दा भी 'वेद कतेब' ही की करते हैं। वे 'बाइबिल' अथवा 'होलीगोस्ट' (Holy Ghost) का नाम भी नहीं जानते। ख़तना, रोज़ा नमाज़ व्रत, तीर्थ आदि का ही वे खण्डन करते हैं। मन्दिर मस्जिद तक ही उनकी दौड़ है! गिरजे से उन्हें कोई वास्ता नहीं, तात्पर्य यह कि कबीर पर केवल हिन्दू और मुसलमान धर्म का ही प्रभाव पड़ा है, ईसाई धर्म का कदापि नहीं। ईसा और कबीर के उपदेशों में जो कुछ साम्य पाया जाता है वह उन उपदेशों की सार्वभौमिकता के कारण ही है।

वैसे तो कबीर ने जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि मतों का भी उल्लेख किया है, परन्तु उनका उन्हें केवल ऊपरी ज्ञान था, गहरा परीक्षण तो उन्होंने केवल दो राहों का किया था—

'संतो राह दोऊ हम दीठा।'

यदि ध्यान से देखा जाय तो इन दोनों मतों में भी कबीर का हृदय वैष्णव धर्म की मिट्टी से बना हुआ दिखाई देगा। कबीर के समान उदार विचारों वाले व्यक्ति को इस्लाम-धर्म की अपेक्षाकृत संकुचित विचार-धारा से अधिक उपयोगी सामग्री मिलने की सम्भावना कम थी। कबीर में कहीं-कहीं जो एकेश्वरवाद की झलक दिखलाई देती है वह अवश्य इस्लाम धर्म के प्रभाव के कारण है। मूर्ति-पूजा का विरोध भी वे कट्टर मुसलमान की भाँति ही करते हैं। इन बातों के अतिरिक्त उन पर इस्लाम-धर्म का प्रभाव प्रायः नगण्य है।

सूफ़ी-मत की उदारता अवश्य उनकी प्रकृति से मेल खाती थी। सूफ़ी-मत भी इस्लाम की कट्टरता के विरुद्ध बाग़ी के रूप में उत्पन्न हुआ था और कबीरदास जी भी धर्मों की संकीर्णता के विरुद्ध खड़े हुए थे। अतः निम्बार्काचार्य की सगुण माधुर्य उपासना को उन्होंने सूफ़ी-रंग में रंग कर अपनाया। सूफ़ियों के प्रेमतत्व वियोग-व्यथा प्रियतम के मिलन का व्याकुल-उद्योग, गुरु-महिमा आदि उनकी रचना में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। यही कारण है कि लोग कभी-कभी तो उनके प्रसिद्ध सूफ़ी महात्मा तक़ी के शिष्य होने की कल्पना तक करने लगते हैं। परन्तु, जैसा कि 'कबीर के रहस्यवाद' का विवेचन करते समय लिखा जा चुका है, कबीर का यह माधुर्य भाव भी केवल सूफ़ी मत के ही प्रभाव का परिणाम न था।

तात्पर्य यह कि रामानन्द के शिष्य कबीर सारतः हिन्दू वैष्णव थे। हिन्दू अद्वैतवाद उनकी रचना का मूल है। वे आत्मा की नित्यता को मानते हैं। आत्मा अमर है और मृत्यु से केवल शरीर ही नष्ट होता है, यह विचार हिन्दू-धर्म का प्रधान-सिद्धान्त है। कबीरदास जी उसे इस प्रकार प्रकट करते हैं—

'कौन मरै कहु पंडित जनां,
सो समझाय कहौं हम सनां ॥ टेक ॥
माटी माटी रही समाई।
पवनै पवन लिया संगि लाई ॥
कहि कबीर सुनि पंडित गुंनी।
रूप मुआ सब देखै दुनी ॥'

हिन्दू-धर्म के दूसरे मुख्य विश्वास—कर्म-फलानुसार आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त को भी वे पूर्ण रूप से मानते हैं। उन्हों ने स्वयं अपने विषय में लिखा है—

'पूरब जन्म हम ब्राह्मन होते, ओछे करम तप हीनां।
रामदेव की सुरति बिसारी, पकरि जुलाहा कीनां॥'

इस प्रकार वे कर्म-फल और पुनर्जन्म में अपना विश्वास प्रकट करते हैं। मुस्लिम अथवा ईसाई धर्म में तो पुनर्जन्म का सिद्धान्त है ही नहीं।

ब्रह्म, जीव और माया का सम्बन्ध भी वे पूरे वेदान्ती के समान वर्णन करते हैं। भक्ति-मार्ग पर उन्हें विश्वास है। हठ-योगियों के षट्चक्र, अनहद्नाद, ईड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ी, कुण्डलिनी आदि से वे पूर्णतः परिचित हैं। वे कहीं-कहीं अवतार-वाद का भी समर्थन करते हैं। वैष्णव जनों की प्राण अहिंसा उनमें कूट-कूट कर भरी है। उन्होंने अपने आप को यद्यपि कभी प्रकट रूप से वैष्णव नहीं कहा, तथापि यह निश्चित है कि उनका झुकाव वैष्णव धर्म की ओर बहुत अधिक था, वे लिखते हैं—

'मेरे साथी दो जणा, एक वैष्णव एक राम।'

और यह 'राम' भी गोपाल, हरि, यादवराय आदि हिन्दू नाम धारण करके ही अधिक आया है।

एक स्थान पर तो उन्होंने हिन्दू-धर्म का बड़ा जोरदार पक्ष-पात भी किया है—

'सुनत कराय तुरुक जो होना, नारी को का कहिए।
अरध शरीरी नारि बखानै तातें हिन्दू रहिए॥'

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि कबीरदास जी ने हिन्दू और इस्लाम धर्म की सीमाएं तोड़ कर उन्हें एक करने का प्रयत्न किया है और यद्यपि उन्होंने अपने धर्म सिद्धान्तों को सूफ़ी-मत और इस्लाम धर्म पर भी अवलम्बित किया है तथापि उन की विचार-धारा का प्रधान उद्गम हिन्दू-धर्म ही है।

खण्डन-मण्डन

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सब धर्मों का मूल-तत्त्व एक ही है। किन्तु, अन्य समानताओं के साथ इन धर्मों में एक भयंकर समानता भी है। वह यह कि ये एक दूसरे के प्रति अत्यन्त असहिष्णु हैं। बिना एक दूसरे का खण्डन किये मानो उनका काम चलता ही नहीं। ईसाई यदि अन्य धर्मावलम्बियों का 'हीदन' (Heathen) नाम से स्वागत करते हैं, तो मुसलमान लोग उन्हें 'काफ़िर' कहते हैं। हिन्दूधर्मावलम्बी भी दूसरों को यवन अथवा म्लेच्छ नाम से सम्मानित करते हैं। यद्यपि कबीर-पंथ में ग़ैर-कबीरपंथियों के लिए ऐसे किसी विशेषण का विधान नहीं किया गया है, तथापि उन्होंने 'वेद-कतेब' की खूब खबर ली है।

'वेद कतेब दोय फँदवारा।
ते फन्दे पर आप बिचारा॥'

उन्होंने हिन्दू-देवताओं को भी अपने सामने नगण्य बतलाया है। त्रिदेव के विषय में कबीर साहब की राय है:—

'ब्रह्मा, विस्नु महेसर कहिए इन सिर लागी काई।
इनहि भरोसे मत होइ रहियो, इनहूं मुक्ति न पाई॥'

साथ ही अपनी महिमा गाते हुए वे कहते हैं:—

सुर नर मुनिजन औलिया यह सब उरली तीर।
अल्लाह राम की गम नहीं तहँ घर किया कबीर॥

अर्थात्, कबीरदास जी इस्लाम और हिन्दू धर्म के संकुचित 'अल्लाह' अथवा 'राम' से कहीं श्रेष्ठ हैं।

ऊपर यह देख चुके हैं कि कबीर के धर्म-सिद्धान्त हिन्दू और मुसलमान धर्म से ही लिये गये हैं; किन्तु उन्हीं के 'वेद-कतेब' को वे कितने आदर की दृष्टि से देखते हैं यह भी उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो गया है।

मुसलमानों के ख़तना, नमाज़, रोज़ा, ज़िबः आदि की वह बड़ी कटुतापूर्ण आलोचना करते हैं। कबीर का विरोध वास्तव में बड़ी हृदयवेधी भाषा में होता है। वे विरोध करते समय बहुधा व्यंग्य और कटूक्तियों से काम लेते हैं। खतना के विषय में आप लिखते हैं:—

'सुनत कराय तुरुक़ जो होना, औरत को का कहिए ॥'

नमाज़ के समय मुल्लां मस्जिद में जो बाँग देता है, उस पर कबीर साहब की कटूक्ति है—

'ना जाने तेरा साहब कैसा ?
मसजिद भीतर मुला पुकारे क्या साहब तेरा बहरा है ?'

जीव-हत्या से कबीर को अत्यन्त घृणा थी। इसलिए इन का अहिंसा-प्रतिपादन और हिंसा-खण्डन बहुत चुभता हुआ और प्रचुर परिमाण में हुआ है। ज़िबः के विषय में ये लिखते हैं—

'बकरी मुरगी किन फ़ुरमाया।
किस के हुकम तुम छुरी चलाया ॥'

'दिन भर रोज़ा धरत हो रात हनत हो गाय।
यह तो खून वह बन्दगी कैसे खुसी खुदाय ॥'

वे पीर साहब से कहते हैं कि नाम तो आप का 'पीर'

है परन्तु आप हैं बड़े 'वेपीर'—

'दरद न जाने पीर कहावे ।
वैता पढ़ि पढ़ि जग समुझावै ॥'

हिंसक की गति का स्मरण कर वे सिहर उठते हैं—

'बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल ।
जो बकरी को खात हैं तिनको कौन हवाल ॥'

नवीन सम्प्रदाय चलाने की इच्छा करने वालों के लिए दूसरे धर्मों का महत्व स्वीकार करना असम्भव ही है, क्योंकि इससे उनके मत का महत्व घट जाता है । अतः, कबीरदास जी ने सभी धर्मों का समानरूप से खण्डन किया है । किन्तु साथ ही यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि उन्होंने सभी बातों की आँख बन्द करके बुराई नहीं की है । वे ऊपरी दिखावट और ढोंग के विरोधी थे । हिन्दू एवं इस्लाम धर्म की बातों का वे बिना पक्ष-पात किए समान रूप से खण्डन करते थे । वे कहते हैं—

'अरे इन दोउन राह न पाई ।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई ।
वेस्या के पायन पर सौवे यह देखो हिंदुआई ।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई ॥
खालोकरी बेटी ब्याहैं घर ही करें सगाई ।
बाहर से एक मुर्दा लाए धोय-धाय अन्हवाई ॥
सब सखियां मिल जेबन बैठी घर भर करें बड़ाई ।
हिंदुन की हिंदुआई देखी, तुरकन की तुरुकाई ॥'

हिन्दू और मुसलमानों का यह ढोंग और अनाचार उन्हें रुचिकर न था । दोनों में इतनी बुराइयां होते हुए भी वे अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए एक दूसरे से लड़ते हैं । राम और

रहीम को अलग अलग बतला कर उन्हें आपसी द्रोह का कारण बनाते हैं:—

'हिंदू कहें मोहि राम पियारा तुरुक कहें रहिमाना ।
आपस में दुहि लरि लरि मूर मरम न काहू जाना ॥'

यही कारण है कि कबीरदास जी उनकी मूर्खता पर व्यंग करके उन्हें चेताने का प्रयत्न करते हैं। जाति-पाँति के भेद-भाव का उन्होंने तीव्र खण्डन किया है । एक परमेश्वर के पुत्रों में, एक ही मिट्टी-पानी के पुतलों में—हिन्दू और मुसलमान, ब्राह्मण और शूद्र आदि में—भेद-भाव कैसा ? कबीरदास जी लिखते हैं—

'ऐसा भेद बिगूचन भारी ।
वेद कतेब दीन अरु दुनिया, कौन पुरुष, कौन नारी ॥
एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा ।
एक जोति थैं सब उतपनां, कौन बाह्मन कौन सूदा ॥
माटी का प्यंड सहजि उतपनां, नादरु व्यंद समाना ।
बिनसि गयां थै कानावं धरिहौ, पढ़ि गुनिभ्रम जाना ॥
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई ।
कहैं कबीर एक राम जपहुरे, हिन्दू तुरक न कोई ॥'

मूर्ति पूजा का विरोध वे तअस्सुवी मुसलमान की तरह करते हैं। उस पर उन्होंने यह बड़ी चुभती हुई कटूक्ति कही है:—

'दुनियां कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय ।
घर की चकिया कोई न पूजे, जिसका पीसा खाय ॥'

कबीर का मत है कि इस 'पीतर पाथर' पूजने से कभी मुक्ति नहीं मिल सकती। उनका कथन है कि यदि मन शुद्ध नहीं है, तो ऊपरी तिलक, छापे, माला आदि से कुछ नहीं होता । भगवान् ऐसे सीधे नहीं जो इन ऊपरी बनावटों के चक्कर में आ जावें ।

उन्हें रिझाने के लिए तो करका मनका छोड़कर मन का मनका फेरना चाहिये:—

'आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लोग तीरथ गरब भुलाना॥
माला पहिरे टोपी दीन्हें छाप तिलक अनुमाना।
साखी सबदै गावत भूले आतम खबर न जाना॥'

भेष के धोखे में संसार भले ही आ जाय, पर भगवान् नहीं आ सकते। जब तक आत्म-शुद्धि नहीं हुई साधु-वेष रखना व्यर्थ है:—

'साधु भया तो क्या भया माला पहरी चार।
बाहर भेष बनाइया भीतर भरी भंगारि॥

इस प्रकार झूठ मूठ सिर मुंडाने अथवा जटा रखाने से कोई साधु नहीं बन जाता। सच्चा साधु तो हृदय को पवित्र कर कनक और कामिनी से विरक्त होकर ही बना जा सकता है:—

'गांठी दाम न बांधई; नहिं नारी सों नेह।
कह कबीर तो साधु की हम चरनन की खेह॥

धन बटोर कर, जमात बनाकर घूमना तो 'साधु' नाम को लजाना है। ऐसे महन्तों के विषय में कबीर ने लिखा है:—

'भक्त विरक्त लोभ मन ठाना।
सोना पहिरि लजावे बाना॥
घोरी घोरा कीन्ह बटोरा॥
गांव पाय जस चले करोरा॥'

सच्चे साधु तो जमात बांधकर रहते ही नहीं, वे तो सौभाग्य से ही कहीं एकाध दिन दिखाई देते हैं:—

'सिंहों के लँहड़े नहीं, हंसों की नहिं पांति।
लालों की नहिं बोरियां, साधु न चले जमात॥'

कबीरदास जी की गोरखनाथ जी पर विशेष आस्था थी। उन्हें वे अपना समकक्ष मानते हुए लिखते हैं—

'सनक सनन्दन जैदेव नामा।
भगति करी मन उनहूं न जाना॥
ता मन का कोई जाने भेव।
रंचक लीन भया सुखदेव॥
गोरख भरथरि गोपीचन्दा।
ता मन सों मिलि करैं अनंदा॥
अकल निरंजन सकल सरीरा।
ता मन सों मिलि रहा कबीरा॥'

राम नाम की महिमा भी गुरु गोरखनाथ ने ही भली प्रकार जानी थी:—

'राम गुण बेलड़ी रे अवधू गोरखनाथ जानी।'

उनकी प्रशंसा में कबीर ने यहां तक लिखा है—

'कामिणि अंग बिरकत भया, रत्त भया हरि नाइ।
साखी गोरख नाथ ज्यूँ अमर भये जग माँहि॥'

महात्मा गोरखनाथ जी उन थोड़े से भाग्यवानों में हैं, जिन की कबीरदास जी ने प्रशंसा की है। उनके इस श्रद्धा-प्रकाशन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गोरख-पंथ की ओर कबीरदास जी की पर्य्याप्त रुचि थी।

कबीर खरेपन के समर्थक थे। गोरखनाथ जी में उन्हें सच्ची साधना दिखाई दी। अतः, उन्होंने उन का यशोगान किया। परन्तु उन्होंने देखा कि गोरख-पंथी साधुओं में से धीरे धीरे सचाई बिदा ले रही है और केवल प्रदर्शन मात्र शेष रह गया है। अतः उन्होंने कहा:—

'मुद्रा पहरयाँ जोग न होई।
घूंघट काढ्या सती न कोई॥'

केवल 'सिंगी' 'मुद्रा' 'मेखला' आदि धारण करने से कोई योगी नहीं हो जाता। दिखावटी-पन से कबीर को आन्तरिक घृणा थी, अतः वे प्रदर्शन-रहित सच्चे योगी का लक्षण बतलाते हुए लिखते हैं:—

'सो जोगी जाके सहज भाइ
अकल प्रीति की भीख खाइ॥
सबद अनाहद सिंगी नाद,
काम क्रोध विषयान वाद॥
मन मुद्रा जाके गुरु को ग्याँन,
त्रिकुट कोट में धरत ध्याँन॥
मन ही करन को करे सनान,
गुरु को सबद ले ले धरै ध्याँन॥
काया कासी खोजै बास,
तहाँ जोति सरूप भयो परकास॥
ग्याँन मेखली सहज भाय,
बंकनालि को रस खाइ॥
जोम मूल को देइ बन्द,
कहि कबीर थिर होइ कंद।'

इसके साक्ष्य में वे स्वयं गोरखनाथ को लाकर खड़ा कर देते हैं:—

'गोरख नाथ न मुद्रा पहरी मस्तक हूं न मुँडाया'॥

मायासक्त झूठे योगीश्वरों के विषय में कबीरदास जी ने लिखा है:—

'महादेव का पंथ चलावै।
ऐसा बड़ा महंत कहावै॥
हाट बाट में लावै तारी।
कच्चे सिद्धान माया प्यारी॥'

इन्हीं हाट बाट में 'तारी' लगाने वाले कच्चे सिद्धों के विषय में कबीर ने लिखा है—

'योगी मदमाते योग ध्यान'

शाक्तों से कबीर का जन्मजात वैर सा था। संभवतः उनके पंच-मकार (मत्स्य, मांस, मदिरा, मैथुन, मुद्रा) से यह अहिंसा-प्रिय संत बेहद चिढ़ गया था। इसी कारण इसने उन्हें कुत्तों का भाई तक कह डाला है—

'साकत सुनहा दूनों भाई'

कबीर ने शाक्तों का माया से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है। वे तो कभी माया के फन्दे से छूट ही नहीं सकते, क्योंकि वह ठगनी माया—

'साकत के घर कर्ता धर्ता,
हरि भक्तन की चेरी हो॥'

शाक्त चाहे जाति का ब्राह्मण भी हो, तो भी वे उससे मिलना पसन्द नहीं करते।

'साकत बाम्हन ना मिलै वैस्नव मिलै चंडाल।'

कबीर व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती ज्ञानमार्गी सन्त थे। अतः धर्म के दिखावटी अंग कर्मकाण्ड आदि से उन्हें घृणा थी। वे उसे पाखण्ड समझते और उसका खूब खण्डन करते थे। ऐसी रूढ़ि सी भी चल पड़ी है कि प्रत्येक नवीन मत-प्रवर्तक खण्डन-मण्डन दोनों ही करे। यह बात अवश्य है कि कबीर का

खण्डन किंचित असंयत एवं तीव्र हो गया है। इसके लिये उनकी तीव्र प्रकृति, उनकी परिस्थितियाँ एवं स्पष्ट-वादिता ही उत्तरदायी हैं। कबीर की यह उद्दण्डता पाखण्ड-खण्डन में ही दिखाई देती है, अन्यथा नम्रता तो सन्तों का प्रधान लक्षण है और कबीर निश्चय ही बहुत बड़े संत थे। पर वे करें क्या? उनका ढोंग से दिल ही न मिलता था:—

'मेरा तेरा मनुआ कैसे एक होय रे'

और इसके कारण वे दुःखी भी होते थे। कबीर साहब ने यही दुःख प्रकट करते हुए कहा है:—

'साँच कहो तो सब जग खीजै झूठ कहा नहिं जाई।
कहें कबीर सोई भयो दुखिया जिन यह राह चलाई॥'

ईश्वरोन्मुख ज्ञानी जब तक केवल आत्म-चिन्तन तथा साधना में लगा रहता है, तब तक वह महात्मा एवं सन्त के रूप में समादृत होता है, परन्तु जैसे ही वह अपने ज्ञान को संसार के उपकार के लिए प्रकट करने लगता है वैसे ही वह उपदेशक का रूप धारण कर लेता है। उपदेशकों को कोरी पट्टियों पर नहीं लिखना होता। उनकी शिष्य मण्डली में पहले से भी कुछ संस्कार होते हैं। उन्हें निकालने के लिये उन्हें सुधारकों का काम करना पड़ता है। उस स्थिति में उन्हें खण्डन और मण्डन दोनों ही कार्य करने पड़ते हैं। यही कारण है कि कबीर साहब को भी अपने सिद्धान्तों के प्रचार के साथ-साथ समाज में फैली हुई कुरीतियों का खण्डन करना पड़ा। उनका परिष्कार किए बिना उनके उपदेशों का शिष्य-मण्डली पर यथेच्छ रंग जमता ही नहीं। फिर भी इनके खण्डन में जो कटुता है, वह इनके खरेपन और स्पष्टवादिता को देखते हुए नितान्त बुरी नहीं लगती।

व्यावहारिक उपदेश

अभी तक यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि कबीरदास जी के धार्मिक सिद्धान्त क्या थे, उन्होंने किन-किन बातों का खण्डन एवं किन-किन का समर्थन किया है। अब इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि उन्होंने केवल ब्रह्म, माया, जीव आदि का तात्विक विवेचन एवं विभिन्न मतमतान्तरों के संकुचित सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन आदि ही नहीं किया है, वरन् व्यावहारिक उपदेश भी दिए हैं जिनका पालन कर इस संसार-यात्रा को भली प्रकार समाप्त किया जा सके तथा अन्त में मनुष्य देह धारण करने का चरम लक्ष्य प्राप्त हो सके। प्रत्येक महात्मा से इस बात की आशा करना उचित भी है, क्योंकि उस की अनुयायी-मण्डली को दिन-रात एकान्त में बैठ कर केवल ब्रह्म-चिन्तन ही तो करना नहीं होता, संसार के संसर्ग में भी आना पड़ता है। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि उन्हें सांसारिक व्यवहार की रीति भी बतलाई जाय।

परन्तु, कबीर के व्यावहारिक उपदेशों पर विचार करने के पहले यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिए कि उनका उपदेश लोक-संग्रह-प्रधान न होकर वैराग्य-प्रधान था। उन्हें इस बात की चिन्ता न थी कि यह संसार किस प्रकार ठीक-ठीक चलेगा। उनकी दृष्टि में लोक-धर्म का स्थान गौण था। किस प्रकार जीव को मुक्ति मिले, यही उनके उपदेश का सार था, फिर चाहे वह सामाजिक

नियमों की शृंखलाओं को तोड़ कर ही क्यों न प्राप्त की जाय। उनकी रचनाओं में इसका उपदेश गौण रूप में ही है कि इस संसार में शान्ति और व्यवस्था से कैसे रहा जाय, परन्तु वे यह बारंबार स्मरण दिलाते रहते हैं कि—

'वा दिन की कछु सुधिकर मन मा।
जा दिन लै चलु लै चलु होई,
ता दिन संग चलै नहिं कोई ॥'

वे इस संसार के निराशात्मक पहलू पर ही प्रकाश डालते हैं। इस देह से यदि प्रेम करना चाहिये तो केवल इस लिए कि यह सिद्धि-प्राप्ति का मुख्य साधन है, अन्यथा तो, वे कहते हैं कि—

'या देही का गरव न कीजे,
मिट्टी ज्यों घुलि जायगा ॥'

यह सब होते हुए भी उनके उपदेश, बहुत मार्मिक होने के कारण, राजमहल से लेकर ग़रीब की झोपड़ी तक के लोगों की जिह्वा पर रहते एवं उनके नित्य व्यवहार में आते हैं।

कबीर का मत है कि—यह संसार दुःख का मूल है। मनुष्य देह धारण करना ही मानो दुःखों को आमंत्रित करना है। इस सत्य को स्मरण रख कर संसार के सुख-दुःख धैर्य के साथ सहने चाहिए—

'देह धरे का दण्ड है सब काहू को होय।
ग्यानी भुगतै ज्ञान से, मूरख भुगतै रोय ॥'

ज़रा, मृत्यु और आपत्ति सभी पर आती हैं, इनसे डरने की आवश्यकता नहीं—

'कबिरा मैं तो तब डरौं, जो मुझ ही में होय।
मीच बुढ़ापा आपदा, सब काहू में सोय ॥'

किन्तु मनुष्य को एक बात कभी न भूलनी चाहिए। दुःख हो या सुख, ईश्वर का स्मरण वह कभी न छोड़े। कैसे भी रहे, कहीं भी रहे, भगवान् का स्मरण करता रहे। यदि स्मरण को दुःख के समय के लिए टालता रहेगा तो फिर उस पर भगवान् ध्यान क्यों देंगे—

'सुख में सुमिरन ना किया, दुख में किया याद।
कह कबीर ता दास की कौन सुनै फरियाद॥'

सच बात तो यह है कि यदि मनुष्य सच्चे हृदय से सदा भगवान् का स्मरण करता रहे तो उसे दुःख हो ही क्यों—

'दुख में सुमिरन सब करें सुख में करै न कोय।
सुख में सुमिरन जो करै दुख काहे को होय॥'

पूर्ण आत्मज्ञान पाना सब के सामर्थ्य की बात नहीं। अतः, उचित यह है कि दृढ़ विश्वास रख कर सद्गुरु के उपदेश का अक्षरशः पालन किया जाय। उसे अपनी ओर से घटाया-बढ़ाया न जाय। जब सद्गुरु ने उपदेश-रूपी शीतल जल प्रस्तुत कर दिया है तब उसी को स्वीकार करना चाहिए।

शंकाशील को; अस्थिर-बुद्धि प्राणी को, कभी सफलता नहीं मिलती—

'चींटी चावल लै चली, बीच में मिल गई दार।
कह कबीर दोउ ना मिलैं एक लै दूजी डार॥'

कबीरदास जी ने स्वयं तो जो कार्य हाथ में लिया उसकी पराकाष्ठा कर दिखलाई, परन्तु वे यह भली भाँति जानते थे कि महापुरुषों और साधारण-जनता के आदर्शों में बहुत अन्तर होता है। अतः जनता को तो उन्होंने मध्यम मार्ग का ही उपदेश दिया है—

'अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥'

मनुष्य जैसी संगति में रहेगा उसकी प्रकृति पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा । अतः, वे सत्संग की बड़ी महिमा बतलाते हैं । अच्छे व्यक्तियों के सत्संग में रहने से सदा लाभ की ही सम्भावना है—

'जो गंधी कुछ दे नहीं तौ भी बास सुबास ।'

बुरी संगति का परिणाम कबीरदास जी ने निम्नलिखित अन्योक्ति द्वारा बहुत सुन्दर रूप में समझाया है—

'केरा तबहिं न चेतिया, जब जामी थी बेर ।
अब चेते क्या होत है, काँटिन लीन्हा घेर ॥'

साधना-क्षेत्र में कबीर ने स्त्रियों का स्मरण बड़े अवांछनीय रूप में किया है । वह एक प्रकार से अपमानजनक ही कहा जा सकता है । कारण यह था कि कबीर विरक्त महात्मा थे । साथ ही विचार करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि कबीर को मातृ-जाति से घृणा नहीं थी, वे तो नर-नारी के वासना-पूर्ण संबंध ही की घोर निन्दा करते थे—

'नर-नारी सब नरक हैं जब लग देह सकाम ।'

यों उन्होंने पतिव्रता स्त्रियों एवं पातिव्रत धर्म की सराहना मुक्तकण्ठ से की है—

'पतिबरता मैली भली, काली कुचित कुरूप ।
पतिबरता के रूप पर वारों कोटि सरूप ॥'

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्त का आदर्श चातक रखा है, उसी प्रकार कबीर ने अपनी साधना का चरम आदर्श पतिव्रता स्त्री को माना है—

'सती बिचारी सत किया काँटों सेज बिछाय ।
लै सूती पति आपना चहुँ दिसि आग लगाय ॥'

उनका कथन है कि भगवान् का स्मरण उसी लगन और

तन्मयता के साथ करना चाहिए, जिससे पतिव्रता अपने पति का करती है। उस में प्रदर्शन का अंश न होना चाहिए—

'नाम रटा तो क्या भया जो अन्तर नहिं हेत।
पतिब्रता पति को भजै मुख से नाम न लेत॥'

यह बात स्मरणीय है कि कबीर के साधारण उपदेश भी तात्त्विक सिद्धान्तों से भरे पड़े हैं। व्यावहारिक उपदेश देते-देते वे आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर इंगित कर देते हैं। अतः, लौकिक पतिव्रता का कर्म-निरूपण करते समय वे यह भी भान करा देते हैं कि उनकी यह पतिव्रता साधक का प्रतीक है और पति ब्रह्म का। जिस प्रकार पतिव्रता अपने पति ही को सर्वस्व समझती है, उसी प्रकार सच्चे निर्गुणोपासक को भी एक परब्रह्म को छोड़ किसी दूसरे देवता का स्मरण न करना चाहिए। किन्तु, यह निश्चित है कि उपर्युक्त पद्यों में कबीर का तात्पर्य लौकिक पतिव्रता से भी है। इन पंक्तियों में केवल एकेश्वर-वाद का ही समर्थन नहीं है, पातिव्रत धर्म की पुष्टि भी है। क्योंकि आगे कबीर लम्पट पुरुषों को भी चेतावनी देते हुए कहते हैं—

'पर नारी पैनी छुरी कोउ जिन लागौ अंग।
रावण के दस सिर गए पर नारी के संग॥'

ईसा ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया—'अपने शत्रुओं को प्रेम करो, जो तुम्हें शाप दे उसे तुम आशीर्वाद दो।' इसी भाव को कबीर ने कितने सुन्दर रूप में प्रकट किया है—

'जो तोकों कांटा बुवै ताहि बोई तू फूल।
तो को फूल के फूल हैं वाको हैं तिरसूल॥'

व संग्रह करना मूर्खता की निशानी और नरक का द्वार समझते हैं। जब ईश्वर पर विश्वास है, तब कल की चिन्ता का

क्या प्रयोजन ? संग्रह करने से लाभ ही क्या, जब हम नित्य देखते हैं कि—

'खाली हाथों वे गए, जिनके लाख करोर।'

इस संसारमें केवल चार दिन रहना है, तब सब आडम्बर और साज-सामान किस लिए—

'काहे को भीत बनाऊँ टाटी,
का जानूं कंहीं परि है माटी।
काहे को मन्दिर महल बनाऊँ,
मुवा पीछे घड़ी एक रहन न पाऊँ॥'

महात्मा कबीर स्वयं भी बड़े सरल हृदय थे और सरलता का ही उन्होंने उपदेश दिया है।

'कविरा आप ठगाइए और न ठगिए कोय।
आप ठगें सुख ऊपजै, और ठगें दुख होय॥'

साधना-मार्ग वास्तव में, इतना सरल और सूक्ष्म है कि उस पर कुटिल हृदय की गति ही नहीं। उस पर चलने की इच्छा करने वाले को सबसे पहले कुटिलता और पाखण्ड को तिलांजलि देनी चाहिए।

शब्दों को सँभाल कर बोलने का ध्यान अत्यधिक रखना चाहिए, ऐसा न हो कि मुख से अपशब्द निकल जाय। गाली के विषय में कबीर लिखते हैं—

'गाली ही सों ऊपजै, कलह कष्ट औ मीच।'

अतः, गाली-गलौज में तो जो—

'हारि भजै सो साधु है लागि मरै सो नीच।'

बातचीत करते समय इसका बहुत अधिक ध्यान रखना

चाहिए कि कहीं दूसरे की निन्दा न हो जाय। यह बड़ा भयंकर पाप है—

'एक निंदक के सीस पर, कोटि पाप को भार।'

किन्तु साथ ही जो अपनी निन्दा करे उसका अनादर करना उचित नहीं है, क्योंकि अपना निंदक तो—

'बिन पानी साबुन बिना
निरमल करत सुभाय।'

दुर्बलों पर विशेष रूप से दया करनी चाहिए। क्षमा, शील, उदारता, सन्तोष आदि सद्‌गुणों का अर्जन करना चाहिए। यदि यह सदा स्मरण रखा जाय कि एक दिन यहाँ से अचानक कूच कर देना होगा तो कभी गर्व अथवा पाप करने की प्रवृत्ति होगी ही नहीं। परन्तु मरने से डरना भी नहीं चाहिए। यह अज्ञान की निशानी है। अपने मालिक को इस जीवन का हिसाब किसी भी समय देने को सहर्ष प्रस्तुत रहना उचित है, यह जीवन उसी की धरोहर है, उसे लौटाने में संकोच कैसा ?—

'मेरा मुझ को कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझ को सौंपते क्या लागे है मोर॥'

संत-परंपरा का समाज पर प्रभाव

स्वामी रामानन्द जी यद्यपि वर्ण-व्यवस्था के विरोधी नहीं थे, तथापि उन्होंने साधनाक्षेत्र में ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री और पुरुष, सबकी समानता स्वीकार की। कबीर के आविर्भाव के समय की परिस्थितियों पर विचार करते समय यह लिखा जा चुका है कि सवर्ण जातियों के अपमान-जनक दुर्व्यवहार से व्यथित निम्न जातियों पर मुसलमानों के सहधर्मियों के प्रति व्यापक बन्धुत्व का बड़ा मोहक प्रभाव पड़ा था। किन्तु स्वामी रामानन्द ने भी उन्हें अपने चरणों में आश्रय देकर उनके हृदय को शान्ति प्रदान की। उन्होंने दर्ज़ी नामदेव, चमार रैदास, धुनियाँ दादू, मुसलमान जुलाहे के यहाँ पले हुए कबीर, आदि को अपना शिष्य बना कर मंत्र-पूत किया। यही नहीं कि उन्होंने भक्ति-भवन के कपाट सब वर्णों के पुरुषों के लिए ही खोले हों उन्होंने शताब्दियों से तिरस्कृत स्त्री-जाति को भी उसके अन्दर प्रवेश करने का परवाना दे दिया। उन्होंने देवी पद्मावती एवं सुरसरी को अपनी शिष्यमंडली में स्थान दिया।

परन्तु इन निम्नश्रेणी-उद्भूत महात्माओं को सम्भवतः हिन्दू समाज पूर्णरूप से संतुष्ट न कर सका। इनकी विचार-धारा हिन्दू या मुस्लिम किसी भी एक धर्म से पूरी तरह मेल न खा सकी। परिणाम यह हुआ कि इसमें से प्रत्येक सन्त ने एक स्वतन्त्र मसीहा बनने का प्रयत्न किया। जो धर्म-तत्व ज्ञान-

गर्वित पंडितों एवं मौलवियों ने देववाणी संस्कृत अथवा अरबी-फ़ारसी की भारी भरकम तिजोरियों में बन्द कर रक्खा था, उस को इन संत-महात्माओं ने ठेठ गँवारू भाषा में मुक्त-हस्त होकर साधारण जनता में लुटाया। इस संत-परंपरा के सर्व-प्रथम एवं सर्व-श्रेष्ठ सदस्य महात्मा कबीर थे। इस पुस्तक में महात्मा कबीर के धर्म-सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जा चुका है। अन्य सन्तों ने भी कबीर से मिलते-जुलते उपदेश दिये। सब ने एक ही ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया। सभी ने व्यक्तिगत साधना का समर्थन कर धर्म के प्रदर्शन-प्रधान अंग का खण्डन किया। सबने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया और बहुधा सबने अपना स्वतंत्र मत चलाया।

महात्मा कबीरदास तथा उनके परवर्ती संतों का भारतीय समाज पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। यह आरम्भ में ही लिखा जा चुका है कि यह संत-परंपरा कतिपय विषम परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप ही प्रारम्भ हुई थी। इन महात्माओं के द्वारा उन परिस्थितियों का समाधान पूरी तरह हुआ। साधारण श्रेणी के हिन्दू एवं मुसलमान राम और रहीम की एकता के घोष को सुनकर अपने आप को एक दूसरे के अधिक निकट ला सके। उस समय के क्षुब्ध वातावरण में निर्गुण-भक्ति ने हृदय को शक्ति एवं सम्बल प्रदान किया। वास्तव में, तुलसीदास के राम ने भारतीय-हृदय पर जो जादू का सा असर किया था, उसके लिये बहुत कुछ क्षेत्र तो कबीर के राम ने ही तैयार किया था। हिन्दुओं में धार्मिक अविश्वास के अंकुर उत्पन्न हो चुके थे। उसकी वृद्धि के लिये पर्याप्त कारण भी उत्पन्न होने लगे थे। शंकराचार्य का शुष्क वेदान्त उनके लिए अरुचिकर भी था और उसके मनन

के लिये इस्लामी लूट-मार के काल में उन्हें समय भी न था। कोई आँखों वाला प्राणी उस स्थिति में मूर्तिपूजा पर भी अधिक समय तक विश्वास नहीं कर सकता था। ऐसे कठिन समय में कबीर की निर्गुण-भक्ति ही जन-साधारण के विश्वास के अंकुर को सुरक्षित रखे रही और उसी अंकुर को पीछे से तुलसी, सूर आदि सगुणोपासक महात्माओं ने अपने भक्ति रस-वर्षण द्वारा पल्लवित एवं पुष्पित किया। आज भी एक 'राम' शब्द अटक से कटक तथा कैलाश से कुमारी तक के विभिन्न भाषा-भाषी, विभिन्न वेशभूषा, विभिन्न जाति-पाँति, विभिन्न चाल-ढाल के शिक्षित और अशिक्षित भारतीय नर-नारियों को एक दृढ़ सूत्र में बाँधे हुए है।

साधना-क्षेत्र में वर्ण-भेद की विषमता हट गई। स्त्री-पुरुष का भी ईश्वर के दरबार में भेद न रहा। परिणाम-स्वरूप दयाबाई और सहजोबाई की शान्ति-दायिनी मधुर वाणी सुनने को मिली। यद्यपि सांसारिक व्यवहार में तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्त्री जाति को पुरुषों की दासी बनी रहने का उपदेश दिया और यह 'फ़तवा' दे डाला कि स्वतंत्र होकर नारी अवश्य ही बिगड़ जाएगी, परन्तु वे ही मीराबाई को कुछ और ही उपदेश देते सुनाई देते हैं। कहते हैं कि मीराबाई ने घर वालों से तंग आकर गोस्वामी जी को लिखा कि:—

'घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु संग और भजन करत मोहि देत कलेश सदाई॥
मेरे मातु पिता के सम हौ हरि-भक्तन सुखदाई।
हम को कहा उचित करिबो है सो लिखिए समझाई॥'

इस पर गोस्वामी जी ने यह उत्तर लिख भेजा—

'जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी-सम यद्यपि परम सनेही।
....
नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहांलौ।
अंजन कहा आँख जो फूटै, बहुतक कहौं कहांलौ॥'

मीरा और गोस्वामी जी का यह पत्र व्यवहार चाहे ऐतिहासिक कसौटी पर पूर्णतः सत्य न प्रमाणित हो, परन्तु वह उस व्यापक साम्यवाद का साक्षी अवश्य है जो संत-कवियों ने साधना-क्षेत्र में उत्पन्न कर दिया था।

समुद्र-मंथन से अमृत निकला था। सुनते हैं उससे सुर समाज अजर-अमर हो गया, लोक का कल्याण हुआ और आज भी चन्द्र-किरणों से चूकर वह अमृत जीव धारियों को शक्ति प्रदान करता है। पर समुद्र-मंथन से विष और वारुणी भी तो निकली थीं। विष तो शङ्कर पी गए और देवों में महादेव बन गए, पर वारुणी आज भी संसार को मतवाला बनाए हुए है। संतों ने भी इस धर्म-समुद्र का मंथन कर यह साम्यवाद का, प्रेम का, भक्ति का अमृत निकाला था। उससे उस समय भी समाज का कल्याण हुआ था और आज भी इस पावन अमृत द्वारा उसे शान्ति प्राप्त होती है। पर, इस मंथन से कालान्तर में बहुत सी अवांछनीय एवं हानिकारक वस्तुएं भी समुद्र-मंथन के विष और वारुणी के समान निकलीं। गोस्वामी तुलसीदास जी उनमें से बहुतों का नाश करने में समर्थ हुए और देवों में महादेव की तरह 'भक्तमाल' के 'सुमेरू' बने। परन्तु उनका दुष्प्रभाव सम्पूर्ण रूप से नष्ट करना उनकी भी शक्ति से परे निकला। इस संत-परंपरा के उपदेशों के सुपरिणामों पर विचार किया जा चुका,

किन्तु, उनके भारतीय समाज पर जो दुष्परिणाम हुए उनका भी विवेचन कर लेना उचित है।

संत-कवियों ने कर्म-काण्ड का नितान्त लोप कर देने का उपदेश दिया है। इससे लाभ के बदले हानि ही अधिक हुई। धर्म के नाम पर जो कुछ पूजा-पाठ अथवा रोज़ा-नमाज़ आदि होता है, यदि वह भी बन्द कर दिया जाय तो उसका परिणाम यही होगा कि कुछ इने-गिने ज्ञानी लोग तो निर्गुण में लौ लगा कर बैठ जायँगे, किंतु साधारण जनता कालान्तर में धर्म और ईश्वर के नाम को भी भूल जायगी। मन्दिरों और गिरजों के घंटे यदा-कदा साधारण जनता को यह तो स्मरण दिला देते हैं कि ईश्वर का स्मरण करना भी उनका एक कर्तव्य है। मस्जिद में बाँग देकर मुल्ला यह तो सूचित कर देता है कि मनुष्यों की रक्षा के लिए ऊपर एक सर्व-शक्तिमान् अल्लाह भी मौजूद है, उसे मत भूलो।

आज कल जो बहुत से कर्म-काण्ड-हीन पाखण्डी साधु दिखाई देते हैं उन्हें निर्गुण पंथ से बहुत सहारा मिलता है। यदि उनसे कोई शंका कीजिए तो वे सुनी-सुनाई ज्ञान की बातें कह कर पूजा, व्रत आदि का खण्डन कर देंगे और केवल 'अलख' को लखने का उपदेश देंगे। यदि वे वास्तव में ज्ञानी हों अथवा ब्रह्म के ध्यान में लवलीन हों तब तो बहुत ही अच्छा हो। परन्तु सत्य यह है कि यदि उनमें से अधिकांश के हृदय का रहस्य किसी प्रकार प्रकट हो सके तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि वे निर्गुण के ध्यान में नहीं वरन् 'रमैया की दुलहिन' (माया) के ध्यान में मग्न हैं।

और यह सब निर्गुण-गान किस लिए किया गया था?

यही सिद्ध करने के लिए न कि—

'हिन्दू तुरक की राह एक है।'

पर दुर्भाग्य से वे राहें एक न हो सकीं। सम्भव है कुछ काल के लिए हिन्दू-मुसलमानों की राहों में अस्थायी ऐक्य बढ़ गया हो, पर देश के दुर्भाग्य से दाढ़ी-चोटी, लुंगी-धोती और राम-रहीम का यह समन्वय स्थायी न हो सका।

अधिक क्या कहा जाय कबीरपंथी हिन्दू और मुसलमानों ने ही कबीर की आत्मा को चीर डाला। उन्होंने मगहर में दो समाधियाँ बनाईं, एक हिन्दू कबीर-पंथियों के लिये और दूसरी मुसलमान कबीर-पंथियों के लिए।

'संसार असार है' यह उपदेश समाज में सीमा से अधिक प्रचलित हुआ। इससे निराशावाद एवं अकर्मण्यता को प्रोत्साहन मिला। आश्रम-धर्म के अनुसार तीसरे-पन में, सफल गृहस्थ होने के पश्चात्, संन्यासी होने के स्थान पर बचपन ही में सिर घुटा कर साधु बन जाना अच्छा समझा जाने लगा। कर्मयोग की महिमा मानो लुप्त हो गई। आलसी साधुओं की संख्या बढ़ी। समाज में, संसार को असार कह कर छोड़ देने वालों की महिमा गाई जाने लगी। आलसी जीवों को जब केवल गेरुआ वस्त्र पहन लेने से अन्न-वस्त्र की चिन्ता से छुटकारा मिलने लगा, तो फिर वे जीवन-क्षेत्र की कठिनाइयों के झमेले में क्यों पड़ते? हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि गेरुआ वस्त्र आलसी-पन अथवा पाखण्ड ही का प्रमाण-पत्र है। आशय इतना ही है कि आलसी और पाखण्डियों को साधु-वेश धारण करने में अधिक सुविधा प्रतीत होने लगी, अतः उन्होंने उस क्षेत्र में अपना बहुमत कर लिया।

जब आगे-पीछे हरि खड़े हैं और जब माँगते हैं तभी वे मन माना देते हैं, अथवा जब सबके दाता राम हैं और अजगर तथा पक्षियों को भी बिना मज़दूरी किए देते हैं, तब फिर व्यर्थ ही हाथ पैर हिलाने की क्या आवश्यकता।

प्रत्येक मत प्रवर्त्तक के मूल सिद्धान्त एवं उसके मत में पालन किए जाने वाले सिद्धान्तों में बहुत अन्तर पड़ जाता है। कबीर-पंथ को ही लीजिए। जिन तिलक, माला आदि का कबीर ने खण्डन किया है, वही आज कबीर-पंथ की प्रधान वस्तुएँ हैं। जिस अज्ञान एवं भेड़िया-धसान का कबीर ने खण्डन किया है, वही आज निम्न श्रेणियों के कबीरपंथियों के ज्ञान-चक्षुओं पर आवरण डाले हुए है। हमारा तो विचार है कि यदि आज महात्मा कबीर भारत भूमि पर पुनः अवतार लें, तो वे कबीर-पंथ को देख कर अवश्य ही बहुत दुःखी होंगे और उसीका सम्भवतः वे सबसे अधिक उग्र खण्डन आरम्भ कर देंगे। कबीर ने अपने समय के पाखण्डियों के विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थीं, परन्तु क्या वे आज कबीर-पंथियों पर ही अक्षरशः लागू नहीं होतीं ?

'माला पहरे टोपी दीन्हें छाप तिलक अनुमाना।
साखी सब्दै गावत भूले आतम खबर न जाना ॥'

—

कबीर की भाषा

हृदय के भाव व्यक्त करने का माध्यम भाषा है। अपने मनोगत भाव स्पष्ट एवं प्रभावशाली रूप से दूसरों पर प्रगट करने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए ही भाषा का सुचारु रूप से अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के साथ जब किसी व्यक्ति की नैसर्गिक प्रतिभा भी मिल जाती है तब परिणाम स्वरूप उस का भाव-प्रदर्शन बड़ी प्राञ्जल, आकर्षक पवं रसानुरूप भाषा में होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जो लोग भाषा का नियमित रूप से अध्ययन नहीं करते वे भावों का प्रकाशन कर ही नहीं सकते। जब घट में भाव स्रोत अश्रान्त गति से प्रवाहित होता है तो उसका बहर बह निकलना प्राकृतिक है। जब कुछ कहने की सामग्री होती है तब भाषा अपने आप साहाय्य देने के लिए दौड़ी आती है। यह सम्भव है कि वह अलंकारभूषिता रमणी के रूप में न आकर कृत्रिम-आभरण-हीना वन्यकुमारी के रूप में आवे। महात्मा कबीरदास जी पर यही बात घटित होती है। उन्हें कहना बहुत कुछ था, परन्तु जीवन में 'मसि कागद' कभी न छूने के कारण उनके विचार प्रगट करने के माध्यम—भाषा—में एकरूपता एवं स्थिरता के स्थान पर कहीं कहीं बेढंगापन, कहीं कहीं अस्पष्टता एवं कहीं कहीं असंयतता आ गई है।

कबीर की भाषा पर विचार करते समय एक बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। कबीर का काव्य अपने मूल रूप में नहीं मिलता। कबीर ने अपनी रचनाएँ लिखी नहीं वरन् गा गाकर सुनाईं। पीछे से लिपिबद्ध होते समय उनमें कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुए होंगे। वर्तमान काल में उनके काव्य के प्रकाशक उनकी भाषा को सुसंस्कृत करने का प्रयत्न करते हैं। इसके कारण कबीर की भाषा की विशेषता एवं मौलिकता पर आघात पहुँचता है।

कबीर पढ़े लिखे नहीं थे। रचना आरम्भ करने के पहले अथवा कभी पीछे, उन्होंने किसी भाषा-विशेष पर अधिकार प्राप्त नहीं कर लिया था। अतः उनका अनेक भाषाओं से प्रभावित होना प्राकृतिक था। अपनी भाषा के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है 'मेरी बोली पूरबी', किन्तु यह पूरबी बोली है कौन-सी ? उनकी भाषा देखने से तो यही ज्ञात होता है कि वह न पूरबी है और न पश्चिमी, परन्तु एक ही हाँडी में पंजाबी, व्रज, राजस्थानी, अवधी, मैथिली, बंगाली, अरबी, फ़ारसी आदि को चढ़ा कर पकाया हुआ सधुक्कड़ अन्नकूट है। कहीं कहीं तो उन्होंने शुद्ध खड़ी बोली लिखी है।

कबीर की भाषा पर पंजाबी का प्रभाव बहुत अधिक है। कहा नहीं जा सकता कि कबीर की भाषा नितान्त इसी प्रकार की थी अथवा उनके किन्हीं पंजाबी लिपिकार की कृपा से वह इस रूप में हो गई है। कबीरदास जी का एक दोहा है—

'चोट सतांणी विरह की सब तन जर जर होय।
मारणहारा जानि है कै जिहिं लागी सोय॥'

इसका यह रूप भी हो सकता है—

'चोट सतानी विरह की, सब तन जर जर होय।
मारनहारौ जानिहै, कै जिहिं लागी सोय॥'

यह सम्भव है कि किसी पंजाबी लिपिकार ने उनकी रचनाओं में 'न' के स्थान पर 'ण' कर दिए हों और उन्हें पंजाबी रंग में रंग दिया हो। परन्तु कबीरदास जी पर अन्य भाषाओं की तरह पंजाबी का प्रभाव था अवश्य। उनकी भाषा में पंजाबी शब्दों के साथ मुहावरे भी मिलते हैं—

'आँखडियाँ प्रेम कसाइयां, लोग जांणे दूखडियां।
सांई अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रतडियां॥
आषडियां झांई पड़ी पंथ निहार निहार।
जीभडियां छाला पड्या, नाम पुकार पुकार॥
मन लागा उनमन सों, उन मन मनहिं बिलग।
लूंण बिलगा पांणियां, पाणीं लूण बिलग॥'

उपर्युक्त दोहों में 'आषडियाँ', 'कसाइयाँ', 'दूखडियाँ', 'रतडियाँ' और 'जीभडियाँ' पंजाबी भाषा के शब्द हैं; और 'लूण बिलगा पांणियां, पाणीं लूण बिलग' पंजाबी मुहाविरा है।

'षटरस भोजन भगति करि जू कदे न छाड़ै पास।
'एथि परघर उथि घरि जोवण आए हाट।'
'बिरहिण थी तो क्यूं रही जली न पिय के नालि।'

आदि पंक्तियों में 'कदे' 'एथि', 'उथि' एवं 'नालि' भी शुद्ध पंजाबी के शब्द हैं।

कुछ शब्दों के उच्चारण भी कबीर ने पंजाबी कर दिए हैं। उन्होंने एक स्थान पर लिखा—

'राम चरन जाके रिदै बसत हैं,
वा नर को मन क्यूं डोलै।'

यहाँ 'रिदै' शब्द 'हृदय' का पंजाबी उच्चारण के अनुसार रूपान्तर मात्र है। कबीर ने और भी कई शब्दों का उच्चारण पंजाबी कर दिया है। 'विवेक' को वे 'बबेक' लिखते हैं—

'नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबही हरै।
कांई गरावै देह, कारिज कोई ना सरै॥'

इस सोरठे में 'बबेक' तो पंजाबी उच्चारण का सूचक है और 'कांई' है 'क्यों' का मारवाड़ी रूप।

'और सबै रंग इहि रंग थैं छूटैं,
हरि रंग लागा कदे न खूटै।'

इन पंक्तियों में यदि 'कदे' पंजाबी का प्रतिनिधि है तो 'थैं' राजस्थानी का।

क्रिया-पद कबीर ने अधिकतर ब्रज एवं खड़ी बोली से लिए हैं।

धरौं चरन बिसबासा।
'अपधू अगिनि जरै कै काठा।'

आदि में 'धरौं' 'जरै' ब्रज के हैं; और

'आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा,
गुरु के सबद मैं रमि रमि रहूँगा।'

में 'आऊँगा', 'जाऊगा', 'मरूँगा', 'जीऊँगा', और 'रहूँगा' खड़ी बोली के हैं।

कबीर का एक पद है—

'कबीरा बिगर्‌या राम दुहाई।
तुम जिन बिगरौ मेरे भाई॥
चंदन के ढिग बिरष जु मैला।
बिगरि बिगरि सो चंदन ह्वैला॥

गंगा में जो नीर मिलैगा,
बिगरि बिगरि गंगोदक ह्वैला ॥
कहैं कबीर जो राम कहैला,
बिगारि बिगारि सो रामहिं ह्वैला ॥'

इस पद में 'बिगरया' राजस्थानी का है, 'मिलैगा' खड़ी बोली का और 'जिनि बिगरौ' ब्रज के शब्द हैं। 'भैला' और 'कहैला' मैथली के प्रतिनिधि हैं और 'ह्वैला बँगाली के 'होइल' का स्मरण दिलाता है।

बंगाली क्रिया 'छिल' का कबीर ने 'आछिलो' बनाकर प्रयोग किया है—

कहत कबीर कछु आछिलो जहिया,

'राम-रहीम' की तरह कबीर ने संस्कृत और फ़ारसी का भी सम्मेलन किया है—

'तू पाक परमानन्दे।
पीर पैगम्बर पनह तुम्हारी, मैं गरीब क्या गन्दे।'

यह 'पाक परमानन्दे' संभवतः आजकल की 'हिन्दुस्तानी' का पूर्व-पुरुष है।

यत्र तत्र तो कबीर ने फ़ारसी, अरबी के शब्दों का प्रयोग प्रचुर रूप में किया ही है, कहीं कहीं तो उन्होंने उनकी झड़ी सी लगादी है—

'खालिक हरि कहीं दरहाल।'
पंजर जसिकरद दुसमन, मुरद करि पैमाल॥
भिस्त हुसकां दोजगां, दुन्दर दराज दिवाल।
पहनांम परदा ईत आतस, जहर जंगमां जाल॥
हम फरत हरबरह समां, मैं खुर्दा सुमा बिसियार।

हम जिमीं असमींन खालिक, गुंद मुसकिल कार ॥
असमान म्यानैं लहंग दरिया, तहां गुसल करदाँ बूद ।
करि फिकर रह सालक जसम, तहां स तहां मौजूद ॥
हंम चु बूंदनि बूंद खालिक, गरक हम तुम पेस ।
कबीर पनाह खुदाइ की, रह दिगर दावानेस ।'

इस पद में केवल 'हरि' 'करि' आदि दो तीन शब्दों ने ही हिन्दी की हिमायत की है अन्यथा तो अरबी-फ़ारसी का ही साम्राज्य है।

कबीरदास जी ने विविध भाषाओं के शब्द लेने ही की स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं किया उन्होंने उन शब्दों के रूप को इच्छा और आवश्यकतानुसार तोड़ा मरोड़ा भी है। उदाहरण के लिए कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

'बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे'
'पंच चोर घर मझां, गढ़ लूटैं दिवस और संझा'
'भिस्त न मेरे चाहिए बाझ पियारे तुझ ।'
'तहाँ जिनि जाय दाझन का डर है ।'
'जबलग धसै न आभ ।'
'माया बड़ी पिचास ।'

इन में रेखाङ्कित शब्द क्रमशः वल्लभ, गृह, मध्य, बिहिश्त, वर्ज्य, दहन, आव एवं पिशाच के तोड़े मरोड़े हुए रूप हैं।

अवधी का एक शब्द 'सन' है जिसका प्रयोग व्रज भाषा के कवियों ने भी खूब किया है। देखिए उसका कबीर ने कितनी तरह से प्रयोग किया है—

'हरि सन किया न हेत ।'
'कैसे होइगा मिलावा हरि सनां

रे तू विषय विकार तजि मनां'

'झगरा एक निबेरौ राम
जे तुम अपने जन सूं काम।

'आपनि तौ मुनि जन ह्वै बैठे,
का सनि कहौं कसाई।'

लिङ्ग, वचन, कारक आदि के नियम कबीर को न बाँध सके। इनके नियमों को पालन करने के लिए कबीर ने कभी अपने मस्तिष्क को कष्ट नहीं दिया। कबीर ने भाषा का पाठ प्रकृति की पाठशाला में पढ़ा था जहां उसे परिमार्जित एवं अलंकृत करना नहीं वरन् उसके द्वारा हृदयगत भाव प्रकट करना ही सिखलाया जाता है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि कबीर के पहले हिन्दी का कोई स्थिर रूप नहीं था अतः कबीर की भाषा में स्थिरता या एकरूपता नहीं मिलती। इस भाषा-सम्मेलन का दूसरा कारण यह है कि इनकी स्वयं की कोई भाषा नहीं थी तथा इनका शब्द भण्डार भी सीमित था। अतः विभिन्न दिशाओं के एवं विभिन्न मतों के विद्वानों के साथ भावों के आदान प्रदान का प्रभाव इनकी भाषा पर पड़ा। साथ ही इनकी भाषा के सम्बन्ध में एक और स्थिति भी विचारणीय है। कबीर का देहावसान मगहर में हुआ, उन्होंने बहुत लम्बी यात्रा की, काशी में वे बसे और उनके पदों का संग्रह सिक्खों के 'ग्रन्थ साहब' में भी हुआ। इस प्रकार पञ्जाब से लेकर बिहार तक कबीर अथवा उनके काव्य का सम्बन्ध स्थापित हो गया। एक और बात भी विचारणीय है। कबीर वैष्णव महात्मा स्वामी रामानन्द जी के शिष्य थे, शेख़ तकी आदि सूफी फ़कीरों से मिले थे, अतः उनका इन दोनों धर्मों की शब्दा-

वली से परिचित हो जाना स्वाभाविक था। सत्संग से ही कबीर ने हठयोग न्याय आदि के शब्द जान लिए थे। सूफ़ी फकीर एवं मुसलमानी राज्य के परिणाम स्वरूप उनकी भाषा में फ़ारसी एवं अरबी के शब्द आ गए हैं। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है वे कहीं कहीं पद के पद ऐसे बना गए हैं जिनमें अरबी फ़ारसी के शब्दों की भरमार है। संभव है यह पद उन्होंने अपने मुसलमान श्रोतागणों तथा सूफी मित्रों के लिये ही लिखे हों।

कबीर ने बहुत थोड़े छन्दों का ही प्रयोग किया है, परन्तु उनको भी वे संस्कृत एवं परिमार्जित न बना सके। जिस व्यक्ति ने मसि कागद कभी न छुआ था उसने छन्द:शास्त्र से अवगत होने का प्रयत्न किया होगा ऐसा सम्भव नहीं ज्ञात होता। पिंगल का सम्पूर्ण सार उनकी खंजड़ी एवं तानपूरा था। उन पर तान लगाते समय जो पद्य ठीक प्रकार से गाया जा सकता था उसकी मात्रा वर्ण आदि गिनने की आवश्यकता नहीं होती होगी।

कबीर ने व्याकरण और पिंगल के नियमों को तो ठुकराया ही है साथ ही संयतता एवं श्लीलता की भी चिन्ता नहीं की। जब हम उन्हें कहते सुनते हैं—

'साधु भया तो क्या भया जो नहिं बोला बिचार।
हनै पराई आतमा, जीभ लिए तरवार।
बोली एक अमोल है, जो कोई बोलै जानि।
हिए तराजू तौल के तब मुख बाहर आनि॥'

—तब उनसे यह आशा करते हैं कि उनकी बोली बड़ी शिष्ट एवं मिष्ट होगी। यद्यपि अन्य सिद्धान्तों में कबीर 'करनी और कथनी' को एक ही रखते हैं तथापि वे इस दिशा में तो 'जीभ लिए तरवार' को बुरा बताते हुए भी अपनी वाणी को कभी कभी विषभरी

तलवार के रूप में प्रयोग करते हैं। कबीर का यह एक भयानक दोष है कि वे विरोध करते करते गाली देने लगते हैं।

कबीर की अस्पष्टता का कारण उनके भावों की गम्भीरता के साथ साथ उनकी भाषा की असमर्थता भी है। किन्तु कबीर ने कवि कहलाने के लिए रचना नहीं की थी। अपने ज्ञान-प्रसार के लिए उन्होंने पद्य का अवलम्बन तो इसलिए लिया था कि गद्य की अपेक्षा वह अधिक प्रभाव शाली होता है। खंजड़ी और तानपूरे पर किसी उपदेशक सन्त का भावपूर्ण गान एक व्याख्यान की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाल सकता है। दूसरे, पद्य में गद्य की अपेक्षा व्यंजना शक्ति अधिक होती है अतः वह उनकी निर्गुण की रहस्यमयी परिभाषा के लिए उपयुक्त माध्यम था। तीसरे, उस काल में गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रचार भी शीघ्रता और सरलता से हो सकता था। यदि ये कारण न होते, तो केवल कवि कहलाने के लिए महात्मा कबीर दास जी पद्य न लिखते।

रस और अलंकार

संसार के सभी प्राणी प्रेम करते हैं, सब को क्रोध आता है, सब के हृदय में किसी-न-किसी समय कोई महत् कार्य करने का उत्साह उत्पन्न होता है, तात्पर्य यह है कि, विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न भावों से भरजाना मानव हृदय का स्वभाव है। जिन्होंने आत्म-संयम द्वारा अपने मन को बिल्कुल दबा दिया है, उन वीतरागों के अतिरिक्त संभवतः सभी के हृदय में उन भावों को व्यक्त करने की इच्छा भी अवश्य होती है और वे उन्हें प्रकट भी करते हैं। मानव-हृदय के इन्हीं भावों को इतनी सफलता के साथ शब्दों में वर्णन करना कि उनका प्रत्यक्ष रूप पाठक अथवा श्रोता के सम्मुख आ जाय और वह उन भावों में स्वयं मग्न हो जाय, रस-परिपाक कहलाता है, और यही रस-परिपाक काव्य की आत्मा है।

काव्य-शास्त्र के विधाताओं ने मानव-हृदय के मुख्य मुख्य भावों को 'स्थायी भाव' संज्ञा दी और यह बतलाया कि किस प्रकार अनुभाव, विभाव एवं संचारी-भावों की सहायता से रस-परिपाक होता है। इन्हीं भावों के वर्णन में रमणीयता लाने के लिये, उसमें चमत्कार पैदा करने के लिये अलंकारों का विधान किया गया।

यह पहले कहा जा चुका है कि कबीर ने कवि कहलाने के लिए रचना नहीं की थी, वे काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के

पश्चात् रचना करने नहीं बैठे थे। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कबीर की रचना केवल नीरस तुकबन्दी ही है, उसमें रस-सामग्री अथवा अलंकार है ही नहीं। जब आदि-कवि बाल्मीकि ने अपने अमर काव्य की रचना प्रारंम्भ की थी, तब उन्होंने कोई काव्य-शास्त्र सामने रख कर, लेखनी न उठाई होगी। सत्य तो यह है कि जब कोई नैसर्गिक-प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि अपनी रचना में सहृदय पाठकों को आनन्द-मग्न करने वाली सामग्री उत्पन्न कर देता था, तो आलोचकगण उसकी रचना का विश्लेषण कर अलंकार और रसों का निरूपण कर देते थे। किन्तु, केवल उन काव्य-शास्त्रों के अध्ययन के भरोसे तो वे ही कवि रचना करते हैं, जिनमें कवि-प्रतिभा प्रचुर परिमाण में नहीं होती। कबीरदास जी तो स्वभावतः प्रखर-कवि-प्रतिभा-सम्पन्न थे। उन्होंने न तो काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया और न उन्हें ऐसा करने की कोई आवश्यकता थी। उनकी रचनाओं में तो अपने-आप रस एवं अलंकार यथास्थान आवश्यकतानुसार आगए हैं।

कबीर ने आत्मा और परमात्मा की पत्नी और पति के रूप में कल्पना कर अपनी रचना में अलौकिक माधुरी उत्पन्न कर दी है। उनकी आत्मा कभी तो प्रियतम के वियोग में तड़पती है और कभी उसके संयोग में मंगल गाती है। इसके कारण उनके काव्य में विप्रलम्भ एवं संयोग शृंगार, दोनों ही की बड़ी सुन्दर और अलौकिक अभिव्यञ्जना हुई है। इन दोनों में, विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन तो बड़ा ही सुन्दर हुआ है। उनकी आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा के वियोग में कहती है—

'बाल्हा आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥ टेक॥

सब कोउ कहै तुम्हारी नारी मोको यह सन्देह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे।
अन्न न भावे नींद न आवै ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूं कामी को काम पियारा ज्यूं प्यासे को नीर रे॥
है कोई ऐसा पर-उपकारी, हरिसूँ कहै सुनाय रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं, बिन देखे जिव जाय रे॥

इस पद में कितना औत्सुक्य, कितनी व्याकुलता, और कितनी तीव्र वेदना है! इस पद की तीव्र-भावना मीरा के विरह-निवेदन का स्मरण दिला देती है।

यद्यपि कबीर अपने विरह-निवेदन में कहीं कहीं अपने विरह की अलौकिकता स्पष्ट कर देते हैं, तथापि इससे उसकी माधुरी एवं उसके रति-भाव की तीव्रता नष्ट नहीं होने पाती—

'अविनासी दुलहा कब मिलिहौ, भगतन रछपाल।
जल उपजी जल ही सों नेहा रटत पियास पियास।
मैं ठाड़ी विरहिन मग जोऊँ प्रियतम तुमरी आस॥
छोड़े गेह नेह लागी तुमसों, भई चरनन लवलीन।
तालावेली होत घट भीतर, जैसे जल बिन मीन॥
दिवस रैन भूख नहीं निद्रा, घर आँगन न सुहाय।
सेजरिया बैरन भई हमको, जागत रैन विहाय॥
हम तो तुमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार।
दीन दयाल दया कर आओ, समरथ सिरजन हार॥
कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपना कर लेव।
दास कबीर विरह अति बाढ़ेउ, हम कै दरसन देउ॥'

यद्यपि इस पद्य की प्रथम पंक्ति में ही यह संकेत कर दिया गया है कि यह विरह 'अविनासी' एवं 'भगतन' के प्रतिपाल'

दूल्हा के वियोग में हैं, परन्तु आगे की पंक्तियों के विरह-निवेदन में जो तीव्रता उत्पन्न कर दी गई है, बहुत ही सुन्दर है। प्रेम गाथाकार सूफ़ी-कवि जहां-कहीं रहस्य-भावना की ओर संकेत करते हैं वहां बहुधा भावों के उत्कर्ष पर भारी आघात पहुंचता है। किन्तु, इस पद्य में यद्यपि यह संकेत कर दिया गया है कि यह वियोगिनी आत्म ब्रह्म-रूपी जल से ही उपजी है और उस जल से ही उसका 'नेह' है, तथापि इस पद की सरसता पर कोई आघात नहीं पहुंचा। 'तालाबेलि होत घट भीतर' के द्वारा हृदय की व्याकुलता बहुत मार्मिक रूप में प्रगट की गई है।

कबीर ने विरह-निवेदन के दोहे भी बहुत सुन्दर एवं मर्म-स्पर्शी लिखे हैं। उनकी माधुरी जायसी के दोहों की माधुरी से कम नहीं। कबीर कहते हैं:—

'यहि तनु जालौं मसि करौं ज्यूं धूँवा जाई सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि॥
चोट सतावी विरह की सब तन जरजर होय।
मारणहारा जानिहै कै जिहि लागी सोय॥'

कबीर का संयोग-शृङ्गार परिणाम में भी थोड़ा है और उतना श्रेष्ठ भी नहीं जितना कि उनका विप्रलम्भ-शृङ्गार। जहाँ वे संयोग का वर्णन करने लगते हैं वहाँ ईश्वर-तत्व बड़े स्थूल रूप में सामने आकर रस-परिपाक में बाधा डाल देता है। उदाहरणार्थ एक पद पर्य्याप्त होगा—

'दुलहिन गावौ मंगलाचार।
हमरे घर आये राम भतार॥
तन रति कर मैं मन रति करिहौं पांचौ तत्व बाराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आये, मैं जोबन मद माती॥

सरि सरोवर वदो करि हों ब्रह्मा वेद उचारा।
रामदेव संग भांवर लै हों धन भाग हमारा॥
सुर तैंतीसौ कौतुक आए मुनिवर सहस अठासी।
कह कबीर मोंहि व्याह चले हैं पुरुष एक अविनासी॥

किसी भी महत् कार्य के करने के लिये हृदय में उत्साह का भाव जाग्रत होना अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् से मिलने का प्रयत्न करने वाले के हृदय में तो अगाध उत्साह-सागर की आवश्यकता है कबीर ने जिज्ञासु की उद्भट वीर से तुलना की है। वह अपना आपा खोकर साधना-क्षेत्र में अवतीर्ण होता है—

'गगन दमामा बाजिया पड़्या निसानै घाव।
खेत पुकारया सूरमा मुझे मरने का चाव॥
पुरजा पुरजा ह्वै रहै तऊ न छाड़ै खेत॥
खेत न छाड़ै सूरमा जूझै द्वै दल माँहि।
आसा जीवन मरण की मन में लावै नाहिं॥'

उपर्युक्त दोहों में वीररस की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित है। यद्यपि इन दोहों के रस-प्रवाह में आध्यात्मिकता ने बाधा नहीं डाली, तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर का यह वीर नायक सांसारिक रणक्षेत्र में लड़ने वाला सैनिक नहीं, वरन् अपनी इन्द्रियों का दमन कर, हृदय के विकारों ही से लड़ कर जीवनन्मृत बनने वाला साधक है:—

'घूणैं पड़या न छूटियो, सुणिरे जीव अबूझ।
कबीर मरि मैदान में करि इन्द्रियां जूझ॥
कबीर सोई सूरमा मन सौ माड़ै जूझ।
पंच पियादा पाई ले दूरि करै सब दूज॥'

अपने सुन्दर एवं स्वस्थ शरीर पर संसार में बहुतों को गर्व होता है। इस गर्व का नाश करने के लिये कबीर ने उसी शरीर का कैसा बीभत्स वर्णन किया है—

'चलत का टेढ़े टेढ़े टेढ़े।
दसों द्वारा नरक में बूढ़े दुरगन्धों के बेढ़े॥
फूटे नैन हृदय नहिं सूझै मति एकौ नहिं जानी।
काम क्रोध तृष्णा के मारे बूढ़ि मुए बिनु पानी॥
जारे देह भसम ह्वै जाई गाड़े माटी खाई।
सूकर स्वान काग के भोजन तन की यहै बड़ाई॥'

नर-नारियों के वासनामय सम्बन्ध का भी कबीर ने बड़ा बीभत्स वर्णन किया है, और कुछ स्थलों पर तो वह अश्लील तक हो गया है।

कबीर की सृष्टि-उत्पत्ति की कल्पना एवं कर्ता महत्ता आदि में अद्भुत रस का संचार हुआ है। यत्र-तत्र हास्य-रस की छटा भी दिखलाई देती है। परन्तु शान्त-रस से तो कबीर का काव्य भरा पड़ा है। जगत् की नश्वरता एवं सांसारिक सुखों की असा-रता का बोध करा कर कबीर मन को ईश्वरोन्मुख करने का प्रयत्न करते हैं। शान्त रस अपनी पूर्ण सामग्री के साथ कबीर के काव्य में प्रवाहित हुआ है। निम्न पद शान्त-रस का सुन्दर उदाहरण है—

वा दिनु की कछु सुधि कर मन मां।
जा दिन लै चलु लै चलु होई। ता दिन संग चलै नहिं कोई॥
तात मात सुत नारी रोई, माटी के संग दिया समोई॥
सो मांटी काटेगी तन मां।
बकफत मेहा कुलफत नारी। किसकी बीबी किसकी बांदी॥

किसका सोना किसकी चाँदी । जा दिन जम लै चल है बांधी ॥
डेरा जाय परै वहि बन मां ।
जो कोई गुरु सों नेह लगाई । बहुत भाँति सोई सुख पाई ॥
माटी में काया मिलि जाई । कह कबीर आगे गोहराई ॥

कबीर के काव्य में अलंकार भी कहीं-कहीं बड़े सुन्दर रूप में आ गये हैं । इनमें सादृश्य-मूलक रूपक, उपमा, दृष्टान्त आदि का ही बाहुल्य है । कबीर ने उत्प्रेक्षा का उपयोग भी अच्छा किया है।

कबीर के रूपक एवं अन्योक्तियाँ बहुत सुन्दर एवं अपनी विशेषता लिए हुए हैं, अतः उन पर हम आगे एक स्वतन्त्र अध्याय में विचार करेंगे। कबीर की उपमाएँ भी बहुत सुन्दर हैं। उन्होंने गूढ़तम तात्विक विषयों को रूपक एवं उपमा द्वारा ही समझाने का प्रयत्न किया है। निम्न लिखित पद्य में कबीर ने उपमाओं द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का संबन्ध समझाया है:—

'साधो सतगुरु अलख लखाया आप आप दरसाया ॥
बीज मध्य ज्यों बिरछा दरसे बृच्छा मद्धे छाया ।
परमातम में आतम तैसे आतम मद्धे काया ॥
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिये सुन्न मद्ध आकारा ।
निह अच्छर ते अच्छर तैसे अच्छर छर विस्तारा ॥
ज्यों रवि मद्धे किरन देखिये किरन मद्ध परकासा ।
परमातम में जीव ब्रह्म इमि जीव मध्य तिमि स्वांसा ॥
स्वांसा मद्धे सब्द देखिये अर्थ शब्द के माही ।
ब्रह्म ते जीव जीव ते मन इमि न्यारा मिला सदाही ॥'

दृष्टान्त तो कबीर की साखियों में बहुत से भरे पड़े हैं। यहाँ हम उदाहरण-स्वरूप केवल दो दोहे देते हैं:—

'कबिरा तहां न जाइये जहां कपट का हेत।
मानो कली अनार की तन राता मन सेत॥
चित कपटी सबसों मिलै माहीं कुटिल कठोर।
इक दुरजन एक आरसी आगे पीछे और॥'

एक सुन्दर उत्प्रेक्षा का उदाहरण लीजिये:—

'रितु बसन्त जाचक भया हरसि देय द्रुमपात।
ताते नव पल्लव भए, दिया दूर नहिं जात॥'

हमारा उद्देश्य कबीर के काव्य के सम्पूर्ण अलंकारों एवं रसों की छान बीन करना नहीं है, अतः इस प्रसंग को अब और अधिक बढ़ाना उचित नहीं। कबीर का काव्य इन बातों से बहुत ऊँचा है। यह सब तो केवल यह दिखाने के उद्देश्य से लिखा गया है कि वास्तविक-कवि-प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति चाहे काव्य-शास्त्र से पूर्णतः अपरिचित हो, चाहे उसे साधारण अक्षर ज्ञान भी न हो, परन्तु यदि वह कुछ कहेगा तो वह अवश्य ही सरस एवं रमणीय होगा। यदि उसमें भावुकता है तो उसकी रचनाओं में रस-सामग्री अपने आप आ जाएगी। अस्तु।

कबीर के पास एक सन्देश था। वे 'हंस उबारने' आए थे। उन्होंने आत्म-तत्व प्राप्त किया था। साधना के मन्दिर में वासनाओं की बलि चढ़ा कर उन्हें आत्मज्ञान का प्रसाद प्राप्त हुआ था तथा इस महाप्रसाद को संसार में वितरित करने के लिए उनकी आत्मा व्याकुल थी। मूर्खतापूर्ण कुरीतियाँ एवं रूढ़ियाँ संसार के माया-बद्ध प्राणियों को नाना प्रकार के कष्ट दे रही थीं। उन पर महात्मा कबीर को अमर्ष हुआ था। उसे कठोरतम शब्दों में प्रकट किए बिना सम्भवतः उनकी आत्मा का ताप न उतरता। धर्म के नाम पर लोगों को अधर्म करते देख, ईश्वर को

अनैतिकता का आधार बनाते देख कबीर को क्षोभ हुआ था और उसे प्रकट किये बिना वे अपना कर्तव्य पूर्ण न समझते थे। इसी अनन्य आवश्यकता ने उन्हें कुछ कहने को बाध्य किया। जैसा भी अस्तव्यस्त एवं असंयत भाषा-साधन इस सत्संगी जुलाहे महात्मा के पास था, उसने उसी में अपने तीव्र भावों को प्रकट करने का प्रयत्न किया।

कबीर साहब इस सत्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि यदि किसी के पास व्यक्त करने को कोई सन्देश हो तो भाषा अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ बिना नियमित आराधना किए ही उसके चरणों में लोटेगी, और वह भाषा कितनी ही कुरूप एवं अस्पष्ट क्यों न हो, यदि उसमें निहित संदेश शिव और सत्य है तो संसार के श्रेष्ठतम मस्तिष्क उस कठोर और बेडौल आवरण के भीतर सप्रयास झाँक कर उसकी दिव्य एवं पवित्र आत्मा के सौंदर्य का दर्शन कर अपने आपको उपकृत एवं धन्य समझेंगे।

———

सूक्तियाँ और उलटबांसियाँ

कबीरदासजी में वाग्वैदग्ध्य एवं उक्ति-वैचित्र्य भी बहुत अधिक है। लोकव्यवहार की साधारण बातें भी उन्होंने ऐसे अनूठे ढंग से कही हैं कि वे बरबस अपनी ओर ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। नीति का उपदेश भी उन्होंने बहुधा इन्हीं सूक्तियों द्वारा दिया है। उनमें जीवन के व्यवहारिक सिद्धान्त बड़े सरल एवं चमत्कारिक ढंग से कहे गये हैं। यही कारण है कि कबीर की ये सूक्तियाँ जन-साधारण में लोकोक्तियों के रूप में प्रयुक्त होने लगीं हैं। कबीर के दोहों के दूसरे चरण बहुधा लोग कहावतों के रूप में प्रतिदिन व्यवहार में लाते हैं। उदाहरणार्थ—

'आगे दिन पीछे गए हरिसों किया न हेत।
अब पछताए होत क्या चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥
करता था तो क्यों रहा, अब करि क्यों पछताय।
बोवै पेड़ बबूर का आम कहाँ से पाय॥
ऊजर खेरे ठीकरी गढ़ि गढ़ि गए कुम्हार।
राबन कैसे ना रहे लंका के सरदार।'

उपर्युक्त दोहों की दूसरी पंक्तियाँ प्रायः पाठकों ने अनेक बार सुनी होंगी तथा स्वयं भी प्रयुक्त की होंगी।

सीधी-सादी साधारण बात भी कबीरदास जी ऐसे चमत्कार-

पूर्ण ढंग से कहते हैं कि वह सुनने पर बरबस हृदय पर प्रभाव डालती ही है—

'माटी कहै कुम्हार से तू क्या रूँधै मोय।
एक दिन ऐसा होयगा मैं रूँधूँगी तोय ॥'

संसार में सभी पूछते हैं 'कहिए कुशल तो है ?' इस प्रश्न का बड़ा चुभता हुआ मुंहतोड़ जवाब वे देते हैं—

'कुसल कुसल ही पूंछते जग में रहा न कोय।
जरा मुई ना भय मुआ कुशल कहां ते होय ॥'

'एक दिन मरना अवश्य है' इसी वाक्य को कबीरदास कैसे अनूठे ढंग से कहते हैं—

'झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥'

अथवा

'चलती चाकी देखि के दिया कबीरा रोय।
दो पाटों के बीच में साबित बचा न कोय ॥'

कबीर वृद्ध हो गए। वे ११६ वर्ष जिए थे। उनके सब मित्र और परिचित क्रमशः सबेरे के तारों की तरह एक एक करके चल बसे थे। अपने उस लम्बे जीवन पर क्षोभ प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—

'साथी हमरे चलि गए, हम भी चालनहार।
कागद मे बाकी रही तातें लागी बार ॥'

संसार में दूसरों के सामने हाथ फैलाना सबसे बुरी बात है। निकटतम मित्र भी हमें याचक के रूप में देख कर उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगते हैं। इस भाव को कबीर ने कितने सुन्दर और संक्षिप्त रूप में प्रकट किया है—

'आब गई आदर गया, नैनन गया सनेह ।
ये तीनों तबही गए, जबहिं कहा कछु देह ॥'

यदि हृदय में स्थान है तब तो आदर-सत्कार का पूछना ही क्या ? परन्तु हृदय से उतरते ही कुछ भी आशा करना व्यर्थ है—

'कर खोरा खोवा भरा, मग जोहत दिन जाय ।
कबिरा उतरा चित सों छाछ दियो नहिं जाय ॥'

कोरे बातूनी उपदेशकों पर व्यंग करते हुए कबीरदास जी लिखते हैं—

'पण्डित और मसालची दोनों सूझै नाहिं ।
औरन को कर चाँदना, आप अँधेरे माहिं ॥'

धैर्य की महिमा एवं आवश्यकता पर कबीरदास जी की यह सूक्ति बहुत ही सुन्दर एवं लोकप्रिय हुई है—

'धीरे धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय ।
माली सींचे सौ घड़ा, रितु आए फल देय ॥'

सांसारिक वैभव की भंगुरता पर कबीर के निम्नलिखित पद की पंक्तियाँ लोगों के मुख से बहुधा सुनी जाती हैं—

'का मांगू कुछ थिर न रहाई,
देखत नैन चल्या जग लाई ॥टेक॥
इक लष पूत सवा लष नाती,
ता रावन घर दिया न बाती ॥
लंका सा कोट समंद सी खाई,
ता रावन की खबरि न पाई ॥
आवत संग न जात संगाती,
कहा भयौ दरि बाँधे हाथी ॥

कहै कबीर अन्त की बारी,
हाथ झाड़ि जैसें चले जुआरी ॥'

कबीर की सूक्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि उनमें से इतनी उद्धृत कर देने पर भी संतोष नहीं होता। परन्तु साथ ही वे परिमाण में इतनी अधिक हैं कि उन सबका या उनके किसी गण्य अंश का यहाँ उद्धृत कर सकना असम्भव है।

कबीरदास जी ने कुछ उलटबाँसियाँ भी लिखी हैं। इन रचनाओं के साधारण अर्थ पर विचार करने से उनका लोक-व्यवहार और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध अर्थ ज्ञात होगा। किन्तु यदि उनके सांकेतिक अर्थ पर विचार किया जाय तो उनके भीतर किसी तात्विक सिद्धान्त का विवेचन मिलता है। कबीरदास जी का ऐसा ही एक पद है—

'संतो एक अचरज मो भारी पुत्र धरल महँतारी ॥
पिता के संगे भई है बावरी, कन्या रहलि कुमारी।
खसमहिं छांड़ि ससुर संग गमनी, सो किन लेहु बिचारी ॥
भाई के संगै सासुर गमनी, सासुहिं सावत दीन्हा।
ननदि भउजि परपंच रच्यो है, मोर नाम कहि लीन्हा ॥
समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी।
कहंहि कबीर सुनहु हो सन्ता पुरुष जन्म भौ भारी ॥'

इस पद के साधारण अर्थ पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यह पद लोकाचार के बिलकुल विरुद्ध एवं असंगत शब्द-योजना-मात्र है। परन्तु, यदि शब्दों के कबीरदास तथा अन्य संतों-द्वारा प्रयुक्त सांकेतिक अर्थों को ध्यान में रख कर इसी की व्याख्या की जाय तो ज्ञात होगा कि यह माया ठगिनी की लीला का वर्णन है।

इस पद का वास्तविक अर्थ श्रीयुत विचारदास जी शास्त्री ने अपने बीजक में इस प्रकार किया है—

कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! आप सुनिए, एक बड़ा भारी अचरज हुआ है कि महतारी (माया) ने पुत्र (जीवात्मा) के साथ सम्बन्ध कर लिया है।

'इतना ही नहीं वह कुंवारी कन्या माया ऐसी पागल हो गई है कि उसने अपने पिता (ईश्वर) के साथ भी सम्बन्ध (स्त्री पुरुष का सम्बन्ध) कर लिया है । इसके बाद खसम (ईश्वर) को छोड़ कर उस माया ने ससुर (अज्ञान) के पीछे पीछे चलना आरम्भ किया है, इस बात को अन्य लोग क्यों नहीं विचारते हैं।

'इसके बाद वह माया अपने भाई (अविवेक) के साथ ससुराल (संसार) में चली आयी और यहाँ अपनी सासु (वंचक लोगों की वाणी) को अपनी सौत बना लिया है। यह सब प्रपंच ननँद (कुमति) और भउजि (अविद्या) ने रचा है, इसमें जीव को मिथ्या ही कलंक दिया जाता है।

'माया समधी (सन्त) के पास नहीं आती है, क्योंकि वह स्वभाव से ही प्रपंच से सम्बन्ध रखती है। कबीर साहब कहते हैं कि पुरुष (जीव) से नारी (इच्छा) का जन्म हुआ।'

इसी प्रकार का कबीरदास जी का एक और पद है—

'अबधू जगत नींद न कीजे।
काल न खाय कलप नहिं व्यापै, देही जुरा न छीजै ॥टेक॥
उलटी गंग समुद्रहिं सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिहमारी रोगिया बैठे, जल में ब्यंब प्रकासै ॥
डाल गह्यां तैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरपकौ लागी, धरणि महारस खावा ॥

अंबर बरसै धरती भीजै यहु जानै सब कोई ।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥'

साधारणतः इस में भी उलटी बातें कही हुई ज्ञात होती हैं। परन्तु, इसका वास्तविक अर्थ अवगत हो जाने पर इस में हठयोग के सिद्धान्तों का वर्णन दिखाई देता है :—

'हे योगी ! साधना के समय को व्यर्थ खोना ठीक नहीं। यदि साधना सफल हुई तो मृत्यु की बाधा न होगी, काल का प्रभाव न पड़ेगा तथा वृद्धावस्था का डर न रहेगा।

प्राणायाम द्वारा ऊर्ध्वगामी होकर कुंडलिनी विकारों के समूह को नष्ट कर देती है। ब्रह्म-रंध्र में स्थित चन्द्र अमृत-वर्षा द्वारा मूलाधार-चक्र में स्थित जरा, रोग उत्पन्न करने वाले सूर्य के प्रभाव को नष्ट कर देता है (देखिये 'कबीर और हठयोग।) इन्द्रियों की वासनाओं का दमन कर योगी अचल समाधि लगाते हैं और जल (संसार) में बिम्ब (ब्रह्म) दिखलाई देने लगता है।

इस 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्'—वाले वृक्ष की डाल (संसार) को ग्रहण करने से मूल (ब्रह्म) दिखलाई नहीं पड़ता और यदि मूल (ब्रह्म) का सहारा लेते हैं तो फल (मोक्ष) मिल जाता है। शरीर-रूपी बाँबी कुण्डलिनी को पकड़े हुए है, अतः ब्रह्म-रंध्र से बहा हुआ अमृत मूलाधार चक्र में नष्ट हो रहा है।

संसार में तो यह प्रसिद्ध है कि आकाश से जल बरसता है और उससे पृथ्वी प्लावित होती है, परन्तु योगियों के संसार की उलटी और विचित्र गति थोड़े ही प्राणी समझते हैं।'

इन उलटबाँसियों का अर्थ लगा सकना सरल नहीं है। जो अर्थ मिलते भी हैं वे पूरी तरह ठीक होंगे, इसमें सन्देह है। ऐसी कूट-वाणी के कारण ही कबीर के विषय में प्रसिद्ध है—

'कबीरदास की उलटी बानी।
बरसै कंबल भीजै पानी॥'

प्रत्येक धर्म-प्रणेता में इस प्रकार का कूट-उपदेश देने की प्रवृत्ति होती है। महात्मा ईसा ने भी इस प्रकार के गूढ़ उपदेश दिए हैं। जब उसके शिष्यों ने इस प्रकार के अस्पष्ट उपदेश देने का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया कि इन उपदेशों के गूढ़ कर देने का कारण यह है कि श्रद्धा-रहित अविश्वासी लोगों को धर्म का पावन रहस्य न मिले, पर साथ ही श्रद्धालु भक्त उससे वंचित भी न रह जायँ। कबीर का भी इन उलटबाँसियों एवं कूट-पदों के लिखने में यही उद्देश्य था। उन्होंने अपने अंतरंग शिष्यों के लिये ये पद धार्मिक-प्रहेलिकाओं के रूप में कहे होंगे। सरलता से मिला हुआ ज्ञान उतना संतोष नहीं प्रदान करता, जितना प्रयास से प्राप्त किया हुआ। मुमुक्षु शिष्य इन उलटबाँसियों पर अपने मस्तिष्क से व्यायाम करा कर आत्मज्ञान खोजते होंगे। असफल होने पर, सम्भवतः, वे गुरु की शरण में जाते होंगे, जहाँ उन्हें उसकी पात्रता का ध्यान रखकर उन पदों की 'कुंजियाँ' गुरु के महाप्रसाद की तरह, प्रदान की जाती होंगी। ये उलट-बाँसियाँ जनता का चित्त आकर्षित करने का साधन भी हो सकती हैं।

रूपक और अन्योक्तियां

यह पहले लिखा जा चुका है कि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध-निरूपण के परिणाम-स्वरूप रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। जिज्ञासु महात्मा की आत्मा को परमात्मा की ओर अनन्त संयोग की इच्छा से अग्रसर होते समय जो अलौकिक अनुभव होते हैं, उनका भावमय वर्णन ही रहस्यवाद कहलाता है। यह भी लिखा जा चुका है कि वर्ण्य विषय की सूक्ष्मता एवं दुरूहता के कारण उसको मानवी भाषा के शब्दों में सुगमता से समझाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि संसार के सभी रहस्यवादी महात्माओं ने अपनी रहस्य-भावनाओं को रूपकों और अन्योक्तियों-द्वारा बहुधा पद्य में प्रगट किया गया है। यह होते हुए भी वे अपने प्रयत्न में पूर्ण सफल हो सके हों, यह नहीं कहा जा सकता। उनका वर्णन बहुत जटिल एवं अस्पष्ट ही रहा।

कबीर ने भी अपनी रहस्य-भावना को प्रकाशित करने के लिये रूपकों और अन्योक्तियों का सहारा लिया है। उनके रूपक और अन्योक्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। उनको पूरी तरह समझने के लिये कुछ ऐसे संकेत-शब्दों से परिचित हो जाना आवश्यक है, जिनका कबीर ने प्रचुर रूप में प्रयोग किया है।

कबीर साहब के रूपकों में एक विशेषता पाई जाती है। वे

जुलाहे थे। यद्यपि वे वीतराग महात्मा थे, तथापि वे अपने निर्वाह के लिए अपने चर्खे और ताने-बाने पर ही आश्रित रहते थे। चर्खा और ताना-बाना सदा उनकी दृष्टि के सामने रहता था। अतः, उन्होंने गम्भीरतम तात्त्विक सिद्धान्तों को भी उन्हीं चर्खे और चादर आदि के रूपकों द्वारा समझाया है। अपनी इस व्यवसाय-सामग्री से उन्होंने अपने छोटे से परिवार का उदर पोषण तो किया ही, साथ ही इसके द्वारा संसार के मुमुक्षुओं की आत्मा के लिये भोजन जुटाने के लिए आध्यात्मिक भाव प्रकाशन में भी सहायता ली।

सबसे पहले कबीर ने साधना के प्रधान साधन मानव-देह को लिया। जब नित्य के निरीक्षण से उन्होंने देखा कि उसमें और उनकी बुनी हुई चादर में बहुत अधिक साम्य है, तब उन्होंने कुछ बहुत ही सुन्दर रूपकों की रचना की। उनका यह चादर का रूपक बहुत प्रसिद्ध है—

"झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना, काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी सुषुमन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पांच तत गुन तीनी चदरिया।
सांई को सियत मास दस लागे ठोक ठोक के बीनी चदरिया॥
सो चादर सुरनर मुनि ओढ़ी ओढ़ के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

इस शरीर-रूपी चादर में इँगला, पिंगला एवं सुषुम्ना तीन नाड़ियाँ हैं, काल-चक्र-रूपी चर्खे से इसके सूत्र का निर्माण हुआ है, यह अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथ्वी, पाँच तत्त्वों से बनी हुई है तथा इसमें सत, रज, और तम, तीन गुण हैं।

विधाता को इस शरीर-रूपी चादर को माता के गर्भ में तैयार करने में दस महीने लगे थे। इतनी महत्त्वपूर्ण चादर का सब लोग दुरुपयोग करते हैं। सदुपयोग किया केवल एक कबीर ने! यदि इस शरीर-रूपी चादर का उपयोग यत्न से किया जाय तो फिर 'प्रीतम' के रीझने में देर नहीं लगती। पर, माया का प्रपंच बड़ा प्रबल है। इसमें पड़ जाने पर इस चादर में दाग़ लग ही जाता है। कहते हैं—

'मोरी चुनरी में लग गयो दाग पिया।
पांच तत्त की बनी चुनरिया सोरह सै बन्द लागे पिया।
यह चुनरी मोरे मैके ते आई ससुरे में मनुआ खोय दिया॥"

यदि दुर्भाग्य से इस चादर में दाग़ लग जाय तो इसे साफ करने का उपाय भी कबीरदास जी बतलाते हैं:—

"मलि मलि धोई दाग न छूटै, ज्ञान का साबुन लाय पिया।
कहत कबीर दाग तब छुटिहै, जब साहब अपनाय लिया॥"

वह दाग़ तब छूटे, जब साहब अपना ले। पर मैली चादर ओढ़ने वाली आत्मा को साहब कभी नहीं अपनाएगा। अतः, आवश्यक है कि सद्‌गुरु-रूपी धोबी ज्ञान का साबुन लगा कर इसे स्वच्छ करदे।

"नैहर में दाग लगाय आई चुनरी।
ऊ रंगरेज़ वा कै मरम न जानै
नाहिं मिलै धुबिया, कबन करै उजरी।
तन कै कुंडी ज्ञान कै सउँदिन
साबुन महंग बिकाय या नगरी॥
पहरि ओढ़ के चली ससुरिया
गौवां के लोग कहैं बड़ फुहरी।

कहत कबीर सुनो भई साधो
बिन सतगुरु कबहूं नहीं सुधरी ॥"

यह आत्मा दुलहिन है और परमात्मा है उसका वरेण्य पति। यह संसार उस दुलहिन का नैहर है। नैहर में इस पति-प्राणा दुलहिन को चैन कैसा ? इस मधुर रूपक ने कबीर के काव्य में एक अलौकिक माधुरी उत्पन्न कर दी है। गोपी-कृष्ण की प्रेम-कथाओं की नींव भी इसी भावना पर रखी गई है।

दुलहिन का एक दिन "गौना' होना ही है। उसे सुसराल जाना ही पड़ेगा। सभी दुलहिनें अपनी-अपनी ससुराल जाती हैं। कोई तो ऐसे गुण सीख कर जाती हैं कि ससुराल के लोगों की प्रिय बन जाती हैं और कोई नैहर में खेल में ही समय बिता देती हैं और फूहड़ बनी रहती हैं तथा पति के स्नेह से वञ्चित रहती हैं। अतः, उचित यह है कि नैहर में ही ऐसे कर्म कर लिए जावें, जिनसे ससुराल में निरादर न हो और प्रियतम का प्रेम भी मिले।

"करो जतन सखि साईं मिलन की।
गुडिया गुडवा सूप सुपोलिया, तज दे बुध लरकैया खेलन की॥
देवता पित्तर भुइयां भवानी, यह मारग चोरासी चलन की।
ऊंचा महल अजब रंग बंगला साईं सेज वहां लागी फुलन की ॥"

इस नैहर में तो चार दिन रहना है। अन्त में तो पति के देश की ओर अकेले ही यात्रा करनी पड़ेगी। वहाँ नैहर का कोई जीव साथ न होगा—

"खेल लै नैहरवा दिन चार।
पहली पठोनी तनि जन आए नौवा बाम्हन वारी।
बाबुल जी मैं पैया तोरी लागों अबकी गवन देव टारी ॥

दूसरी पठोनी आपै आए लैके डोलिया कहार।
धरि बहियां डोलिया बैठारिन कोउ न लागे गुहार ॥
लेई डोलिया जाय बन उत्तारिन कोई नहि संगी हमार।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो इक घर है दस द्वार ॥"

कबीर ने इस शरीर का सादृश्य एक पिंजरे से भी दिखलाया है। इसमें जीव-रूपी पक्षी बन्द है। पर, इस पिंजरे में दस दरवाजे हैं और वे भी सदा खुले रहते हैं। अतः यह कैदी पक्षी किसी समय भी इस पिंजरे को छोड़ नहीं सकता है:--

'दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन।
रहने का अचरज महा, गये अचम्भा कौन ॥

इस पक्षी के पिंजरा छोड़ने का दृश्य कबीर ने कितना करुणा चित्रित किया है:—

"सुगवा पिंजरवा छोरि भागा।
इस पिंजरे में दस दरवाजें दस दरवाजे किवरवा लागा ॥
अखियाँ सेती नीर बहन लग्यो अब कस नाहिं तू बोल अभागा ॥'

कबीर की दृष्टि जुलाहे के यन्त्रों तक ही सीमित नहीं रही। भारत के प्रधान व्यवसाय कृषि-कर्म पर भी उनका ध्यान गया। उन्होंने उस से भी एक बहुत ही प्रभाव-शाली रूपक की कल्पना ली—

"गगन घटा घहरानी साधो गगन घटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी बदरिया रिम भिम बरसत पानी ॥
आपन आपन मेंड संभारो बहो जात यह पानी।
मन कै बैल सुरत हरवाहा जोत खेत निरवानी।
दुविधा दूब लोक करू बाहर होय नाम की धानी ॥
जोग जुगुत्र करि करु रखवारी चर न जाय मृगधानी।

बाली झार कूट कर लावै सोई कुसल किसानी ॥
पांच सखि मिलो कीन रसोइया एक से एक सियानी।
दूनों थार बराबर परसे जेवैं मुनि और ज्ञानी ॥
कहत कबीर सुन भई साधो यह पद निरवानी।
जो या पद को परचौ पावै ताको नाम विज्ञानी ॥"

रूपकों की तरह कबीर की अन्योक्तियाँ भी बड़ी अलौकिक और रमणीय हैं। अन्योक्ति और रहस्यवाद में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। जायसी का पद्मावत एक बृहत् अन्योक्ति मात्र है। कबीर ने भी आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध समझाने के लिये अन्योक्तियों का बड़ा सुन्दर उपयोग किया है।

यद्यपि इस शरीर के भीतर भी परमात्मा की ज्योति मौजूद है, तथापि माया के भ्रम के कारण जीवात्मा को उसके दर्शन नहीं होते। कबीर ने अन्योक्ति द्वारा उस दुखी जीवात्मा को कैसे भावपूर्ण शब्दों में परब्रह्म के उसके निकट ही होने की सूचना दी है—

"काहे री नलिनी तू कुमिलांनी।
तेरे ही नालि सरोवर पानी ॥ टेक ॥
जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि ॥
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहिं मूए हंमारे जान ॥"

'हे नलिनी (जीवात्मा) तू दुखी क्यों है? तेरे निकट ही तो ब्रह्म-रूपी जल भरा हुआ है। तू उसी जल से उत्पन्न हुई है और उसी जल में तेरा निवास है। तेरे चारों ओर तो कहीं भी दुःख-दैन्य न होना चाहिये, कहीं तेरा चित्त माया से तो नहीं लग गया। हे नलिनी (जीवात्मा) यदि तू जल (ब्रह्म)

से ही चिरंतन प्रेम कर लेगी, उस से एकीकरण प्राप्त कर लेगी, तो तू अमर हो जायगी।'

यह अन्योक्ति कितनी सुन्दर एवं पूर्ण है। कबीर की अन्योक्तियों की रचना-चातुरी अपूर्व थी। एक और सुन्दर अन्योक्ति है:—

"चलि चलि रे भंवरा कवल पास।
भवरी बोलै अति उदास॥ टेक॥
तैं अनेक पहुप कौ लियो भोग।
सुख न भयौ तब बढ़्यौ है रोग॥
हौं जे कहत तोसूं बार बार।
मैं सब बन सोध्यो डार डार॥
दिनां चारि के सुरंग फूल।
तिनहि देखि कहा रह्यो है भूल॥
या बनासपती मैं आगि लागिगै।
अब तूं जैहौ कहां भागि॥
पहुप पुरांने भये सूक।
तब भवरहि लागी अधिक भूख॥
उड्यौ न जाइ बल गयौ है छूटि।
तब भवरी रूनी सीस कूटि।
दह दिसि जौवै मधुप राइ।
तब भवरी ले चली सिर चढ़ाई॥
कहै कबीर मन को सुभाव।
राम भगति बिन जम कौ डाव॥"

इस में कबीर ने ब्रह्म को कमल, जीव को भ्रमर और बुद्धि (ज्ञान को) को भ्रमरी कहा है। भ्रमर (जीव) इस

माया के झूठे फूलों में फूल रहा है। भ्रमरी (बुद्धि) उसे समझाती है कि सब प्रपंच नश्वर है, उसे शीघ्र ही छोड़ना उचित है। परन्तु भ्रमर ने तब तक उसकी बात न मानी जब तक कि वह बलहीन न हो गया, जब तक उस माया का रंग फीका न पड़ गया। उस आड़े समय में वह भ्रमरी (बुद्धि) ही काम आई और वह उसे सहारा देकर परम-आश्रय (ब्रह्म) की ओर ले गई।

अन्योक्ति-रचना में कबीर की ऐसी पटुता थी कि उन्होंने एक एक दोहे में बड़े-बड़े रहस्यों को भी स्पष्टता-पूर्वक समझा दिया है। उदाहरणार्थ निम्न लिखित दोहे को लीजिए। उसमें कबीरदास जी ने काल को बाढ़ी (बढ़ई), शरीर को वृक्ष और जीव को पक्षी मान कर मृत्यु पर कैसी सुन्दर अन्योक्ति कही है—

"बाढ़ी आवत देख के, तरुवर डोलन लाग।
हम काटे की कुछ नहीं, पंखेरु घर भाग॥

हम लोगों में से जब कोई मरता है तो हमारे हृदय में एक विचित्र विषाद-पूर्ण भाव उठता है। उसे कबीर ने अन्योक्ति द्वारा कितने सुन्दर रूप में व्यञ्जित किया है:—

"माली आवत देख के, कलियां करी पुकार।
फूले फूले चुन लिये, कालि हमारी बार॥"

कबीर की एक और अन्योक्ति देकर हम यह अध्याय समाप्त करते हैं। सहृदय पाठक देखेंगे कि निम्न-लिखित पद्य की चार पंक्तियों ही में कबीर ने कितनी सरस और सरल भाषा में देही के देह छोड़ने का करुण दृश्य हृदय-स्पर्शी ढंग से चित्रित किया है। ज्ञान और भावुकता का ऐसा सुन्दर समन्वय और कहीं अलभ्य है:—

"सुनु हंसा प्यारे सरवर तजि कहां जाय ।
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होते, बहु बिधि केलि कराय ॥
सूखे ताल पुरइन जल छोड़े, कवल गइल कुँमलाय ।
कहहिं कबीर अबहीं के बिछुड़े, बहुरि मिलहु कब आय ॥

हे प्यारे जीव (हंस) इस शरीर (सखा) को छोड़ कर कहाँ चले ? इस शरीर के द्वारा ही तो तुम ने इतना ज्ञान (मोती) लाभ किया था। तुम्हारे जाते ही यह शरीर (ताल) सूख जायगा, नेत्रों (पुरइन) से अश्रु निकलने लगेंगे और मुख (कमल) कुम्हला जायगा। अब की बार के बिछुड़े क्या फिर कभी मिल सकोगे ?

हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान

यह लिखा जा चुका है कि कबीर वस्तुतः महात्मा एवं उपदेशक थे। पद्य तो वे अपने उपदेश को रोचक बनाने के लिए तथा उसकी व्यंजना-शक्ति से लाभ उठाने के लिए लिखते थे। परन्तु उनमें नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा थी, जिसके कारण उनकी अपूर्व एवं अद्वितीय कृतियां हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं तथा उसे सम्पन्न बनाती हैं। अतः हिन्दी साहित्य में कबीरदास जी का क्या स्थान है ? इस प्रश्न पर विचार कर लेना भी उचित होगा।

वर्णित विषय के क्षेत्र पर ध्यान दिए बिना ही कवियों की तुलना कर उनके स्थान निर्धारित करने की प्रथा की निस्सारता एवं असंगतता सिद्ध करने की आवश्यकता अब हिन्दी जगत् में संभवतः नहीं रही, क्योंकि विद्वानों ने इस ओर पर्याप्त ध्यान आकर्षित करा दिया है। अतः महात्मा कबीर की रचनाओं के विभिन्न पहलुओं पर विचार कर हम उनके समान-क्षेत्र में रचना करने वाले कवियों में उनका स्थान ढूंढने का प्रयत्न करेंगे।

पीछे के सब सन्त-कवियों की शैली एवं विचार धारा कबीर से मिलती-जुलती है। परन्तु दुर्भाग्य से, उसमें कबीर

के काव्य की दुर्बलताओं ने तो प्रवेश कर लिया पर वह शक्ति नहीं आ सकी जो उसमें है। यद्यपि उन्होंने कबीर के ही भावों को दोहराया है, तथापि उन्हें अपनी अक्षमता से निष्प्राण कर दिया है। अपनी रचनाओं में वे वह ताज़गी न ला सके जो कबीर की रचनाओं में है। अतः संत कवियों में तो निश्चय ही कबीर का काव्य सर्व-श्रेष्ठ है।

कबीर दास जी हिन्दी में रहस्यवादी-कविता के जन्म-दाता तो हैं ही, उनका आसन भी हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में सब से ऊँचा है। सूफी प्रेम-गाथा-कारों का काव्य सरस भले ही हो, पर उनकी रहस्य-भावना कबीर से टक्कर नहीं ले सकती। कबीर के काव्य में उनकी आत्मा पार्वत्य-जल-प्रपात के समान हाहाकार करती हुई परमात्मा की ओर वेग के साथ बढ़ती हुई ज्ञात होती है। प्रेम-गाथा-कारों की रहस्य भावना क्षीण जल-स्रोत की तरह कहीं-कहीं अकस्मात् दर्शन देकर फिर लुप्त हो जाती है। कबीर का सा ओज, तीव्रता एवं तन्मयता हिन्दी का कोई भी रहस्यवादी कवि अपने काव्य में नहीं ला सका।

कबीर ने मुक्तक छंद लिखे हैं। उनमें तात्विक सिद्धान्तों के निरूपण के अतिरिक्त नीति-विषयक उपदेश भी हैं। इस प्रकार का नीति-काव्य भी हिन्दी में बहुत से कवियों ने लिखा है। यह बहुधा सूक्तियों के रूप में होता है। इसकी सफलता के लिए मर्मस्पर्शी व्यंग्य एवं प्रचुर वाग्वैदग्ध्य की आवश्यकता है। कबीर में ये दोनों गुण विशेष रूप से विद्यमान हैं। नीति-काव्य की रचना में भी वे हिन्दी के किसी कवि से कम नहीं। रहीम तो

उनके सामने ठहर ही नहीं सकते, वृन्द भी इनकी नीतिकाव्य-रचना- चातुरी को परास्त नहीं कर सकते।

काव्य-शास्त्र के आचार्य कवियों की तो कबीर के साथ तुलना हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार वीणा के कृत्रिम स्वरों की तुलना आम्र कानन में उन्मुक्त विहार करने वाली कोकिला की काकली से नहीं हो सकती, उसी प्रकार स्वाभाविकता-हीन केशव आदि आचार्यों की तुलना इस नैसर्गिक कवि से नहीं हो सकती। नायिका-भेद-निरूपण एवं घोर शृङ्गारिक वर्णन करने वाले कवियों का तो कबीर के साथ नाम लेना भी अन्याय होगा। वे तो उसी वस्तु का वर्णन करने में अपना अहोभाग्य समझते हैं, जिसे कबीर ने संसार की सबसे बड़ी गंदगी समझ कर घृणा की दृष्टि से देखा। भौतिक-भावना के निकृष्टतम रूप-काम-वासना के वर्णन की आध्यात्मिकता की उच्चतम तेजोराशि से तुलना करना नितान्त अनुचित है।

निराकार एवं साकार की दीवार को हटा कर यदि हम समस्त भक्त-कवियों पर विचार करें तो भी कबीर साहब का स्थान अधिक नीचा नहीं दिखाई देता। बिलकुल-चूड़ामणि भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसी दास जी का आसन तो निश्चय ही हिन्दी संसार में सर्वोच्च है। सूर की सुषमा, उनके प्रेम की तन्मयता एवं अन्य काव्योचित गुण भी अपूर्व हैं। किन्तु इन दोनों महाकवियों के पश्चात् हिन्दी के भक्त-कवियों में कबीर का आसन प्रतिद्वंद्वी-रहित है। तुलसी और सूर को छोड़ कर कबीर की अनूठी वाणी से श्रेष्ठता अथवा समता का दावा करने की शक्ति किसी भक्त-कवि में नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी कबीरदास हिन्दी साहित्य के

पितामहों में से हैं। भक्ति-काव्य का हिन्दी में आरम्भ यद्यपि इनके पहले स्वामी रामानन्द तथा नामदेव आदि कर चुके थे तथापि वह स्रोत नितान्त क्षीण था। उसे प्रबल धारा का रूप कबीर ने ही दिया। मैथिल-कोकिल विद्यापति अवश्य अपना शृंगार-मिश्रित भक्ति-रस-स्रोत बहा चुके थे, परन्तु पश्चिमी भारत पर उनका उस समय कोई प्रभाव पड़ा होगा, यह संभव नहीं ज्ञात होता।

कुछ विद्वानों का मत है कि किसी कवि की श्रेष्ठता का अनुमान उसके प्रचार से भी लगाया जा सकता है। इस मत में बहुत कुछ तथ्य भी है। किसी असद् वस्तु का प्रचार अधिक समय तक जन समाज में नहीं रह सकता। प्रचार और प्रभाव की दृष्टि से कहा जा सकता है कि कबीर का स्थान गोस्वामी तुलसीदास जी के पश्चात् ही है। उत्तर-भारत पर जितना प्रभाव इन दो महात्मा कवियों का है, उतना और किसी का नहीं। निम्न श्रेणी की अशिक्षित जनता में कबीर का प्रचार संभवतः तुलसी से भी अधिक कम न होगा।

इतना लिखने के पश्चात् भी और कबीर के काव्य की त्रुटियों को दृष्टि में रखते हुए भी, हृदय तो यही कहता है कि कबीर में कुछ ऐसी बात अवश्य है, जिसकी समानता हिन्दी का कोई भी कवि नहीं कर सकता। उनमें कुछ ऐसा अनूठापन अवश्य है, जिसके कारण वे किसी श्रेणी-विशेष के कवियों में नहीं खप सकते। उनमें कुछ ऐसा आकर्षण है जिसके द्वारा वे हृदय को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर अपने आलोचक को अपना पक्षपाती बना लेते हैं।

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों एवं निबधों की सूची:—

(मैंने अपने विचारों को महात्मा कबीर की रचनाओं के आधार पर ही प्रकट करने का प्रयत्न किया है। परन्तु, साथ ही महात्मा कबीर के उपदेशानुसार 'काढ़ा जल पीवै नहीं काढ़ि पियन की हौस' को भी उचित सीमाओं में अन्दर ही रखा है। मैंने अन्य विद्वान लेखकों के निबन्धों एवं पुस्तकों के रूप में प्रकाशित उनके परिश्रम के फल से भी पूर्ण लाभ उठाया है। यह सूची देने में मेरा उद्देश्य कबीर सम्बन्धी समस्त उपयोगी तथा बड़ी बड़ी पुस्तकों एवं निबन्धों की नामावली देकर अपनी बहुज्ञता प्रकट करना नहीं, वरन् उन पुस्तकों तथा प्रबन्धों के लेखकों एवं प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करना है, जिनसे मैंने इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में किसी न किसी रूप में सहायता ली है।)

पुस्तकें

कबीर का रहस्यवाद	लेखक	श्री० राम कुमार वर्मा
कबीर ग्रन्थावली	,,	बा० श्याम सुन्दर दास
कबीर वचनावली	,,	पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
काव्य में रहस्यवाद	,,	पं० रामचन्द्र शुक्ल
जायसी ग्रन्थावली	,,	पं० रामचन्द्र शुक्ल
बीजक	,,	श्री० विचार दास शास्त्री
भाषा और साहित्य	,,	बा० श्यामसुन्दरदास
हिन्दी नवरत्न	,,	श्री० मिश्रबन्धु
हिन्दी साहित्य का इतिहास	,,	श्री० रामशंकर शुक्ल
हिन्दी साहित्य का इतिहास	,,	पं० रामचन्द्र शुक्ल
कबीर एण्ड दी कबीर पंथ	,,	रेवरेन्ड वेस्कट

निबन्ध

कबीर (नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ५ संवत् १६८)
लेखक—पं० शिवमंगल पाण्डेय ?

कबीर साहब का जीवन-वृत्त (ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अंक ४)
लेखक—श्री० चन्द्रबली पाण्डेय।

कबीर: सिद्धान्त और रहस्यवाद (परिषद् निबन्धावली, भाग २)
लेखक—श्री० सोमनाथ गुप्ता।

छायावाद व रहस्यवाद ('विशाल-भारत' आषाढ़ संवत् १६८५)
लेखक—श्री० गुलाब राय ।

रहस्यवाद—लेखक—श्री० गुलाब राय ।

रहस्यवाद और हिन्दी में उसका स्वरूप ('सुधा' पौष, तु० सं०३१०)
लेखक—प्रो० सद्गुरु शरण अवस्थी ।

संत साहित्य ('हिन्दुस्तानी' अक्टूबर १६३१)
लेखक—श्री० परशुराम चतुर्वेदी ।

हिन्दी-काव्य में निर्गुण संप्रदाय (ना० प्र० प० भाग १५ अंक १)
लेखक—डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ।

प्रभाकर परीक्षा की सहायक पुस्तकें

महात्मा कबीर की कुञ्जी

लेखक—कविराज रामलाल अग्रवाल

कबीर जैसे गम्भीर और रहस्यवादी कवि के कठिन काव्य को समझना एक टेढ़ी खीर है और इसपर भी उसपर की गई समालोचना तो और भी कठिन कार्य हो जाता है। इस कुञ्जी में उन गुत्थियों को सुलझाया गया है और इतना सरल कर दिया है कि प्रत्येक छात्र समझ कर आसानी से पास हो सकता है। मूल्य १।)

यशोधरा की कुंजी

नया संस्करण

लेखक—रामलाल अग्रवाल, साहित्य-रत्न

इस कुञ्जी में पुस्तक के कठिन शब्दों के अर्थ, पद्यों के सरलार्थ और भावार्थ बड़ी सरल और शुद्ध भाषा में दिये गये हैं। इसके साथ ही कुञ्जी के आरम्भ में पुस्तक पर बड़े उत्तम ढङ्ग से बड़ी प्रांजल भाषा में आलोचना की गई है जो परीक्षार्थियों के बड़े काम की है। आरम्भ में लेखक का परिचय और उनकी कृतियों पर समालोचना की गई है। मूल्य ॥।)

शकुन्तला नाटक की कुंजी

लेखक—श्री बलबीर शास्त्री

इसमें मूल लेखक का परिचय, अनुवादक का परिचय पात्र-परिचय, नाटक-संक्षेप, कठिन शब्दों के अर्थ, कठिन पद्यों के सरलार्थ और भावार्थ आदि सरल भाषा में दिये गये हैं। मूल्य ॥)

प्रभाकर परीक्षा की सहायक पुस्तकें

हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा

लेखक—आत्माराम सूरी बी० ए०

पुस्तक क्या है इतने बड़े इतिहास का निचोड़ है ! भाषा बड़ी सरल और साहित्यक है । प्राचीन और अर्वाचीन लेखकों का वृत्तान्त अनोखे और अनुपम ढंग से दिया गया है । इसकी सहायता से कमज़ोर परीक्षार्थी आसानी से उत्तीर्ण हो सकते हैं और योग्य विद्यार्थी अच्छे नम्बरों के साथ पास होकर यश प्राप्त कर सकते हैं । मूल्य १।)

मकरन्द की कुंजी

लेखक—साहित्यायुर्वेदाचार्य पं० सोमदेव शास्त्री प्रभाकर ए० एम० एस०, प्रो० स० ध० आयुर्वेदिक कालेज, लाहौर ।

इसमें पुस्तक सम्बन्धी आलोचना, कवि-परिचय, कवियों की आलोचना, कठिन शब्दों के शुद्ध रूप, पद्यों के सरलार्थ, भावार्थ, पद्यान्तर्गत अलंकार, अन्तर्गत कथाएं सरल तथा सुगम भाषा में दी गई हैं । यह पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए परमोपयोगी है । मूल्य ।।=)

नोट—धोखे से बचने के लिये पं० सोमदेव के नाम के आगे प्रो० स० ध० आयुर्वेदिक कालेज अवश्य देख लें ।

तितली की कुंजी

इसमें उपन्यास का संक्षेप, पात्र परिचय, पुस्तक पर समालोचना बड़ी ललित और सरस भाषा में की गई हैं । साथ ही परीक्षोपयोगी प्रश्न भी दिये गये हैं । मूल्य ।=)